अतीत के चल-चित्र

महादेवी वर्मा

ग्रथ-सख्या—७७
प्रकाशक तथा विक्रेता
भारती-भण्डार
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

चतुर्थ सस्करण
स० २००७
मूल्य २)

मुद्रक—
महादेव एन जोशी
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

अतीत के चल-चित्र

अपनी बात

समय समय पर जिन व्यक्तियों के सम्पर्क ने मेरे चिन्तन को दिशा और सवेदन को गति दी है उनके सस्मरणों का श्रेय जिसे मिलना चाहिए उसके सम्बन्ध में मैं कुछ विशेष नही बता सकती। कहानी एक युग पुरानी पर करुणा से भीगी है। मेरे एक परिचित परिवार में, स्वामिनी ने अपने एक वृद्ध सेवक को किसी तुच्छ-से अपराध पर, निर्वासन का दण्ड दे डाला और फिर उनका अहकार, उस अकारण दण्ड के लिए असख्य बार मागी गई क्षमा का दान भी न दे सका।

ऐसी स्थिति मे वह दरिद्र पर स्नेह मे समृद्ध बूढा, कभी गेंदे के मुरझाये हुए दो फूल, कभी हथेली की गर्मी से पसीजे हुए चार बताशे और कभी मिट्टी का एक रङ्गहीन खिलौना लेकर अपने नन्हे प्रभुओं की प्रतीक्षा में पुल पर बैठा रहता था। नये नौकर के साथ घूमने जाते हुए बालकों को जब वह अपने तुच्छ उपहार देकर लौटता तब उसकी आखें गीली हो जाती थी।

सन् '३० मे उसी भृत्य को देख कर मुझे अपना बचपन और उसे अपनी ममता से घेरे हुए रामा इस तरह स्मरण आये कि अतीत की अधूरी कथा लिखने के लिए मन आकुल हो उठा। फिर धीरे धीरे रामा का परिवार बढ़ता गया और अतीत-चित्रो मे वर्तमान के चित्र भी सम्मिलित होते गए। उद्देश्य केवल यही था कि जब समय अपनी तूलिका फेर कर इन अतीत चित्रों की चमक मिटा दे तब इन सस्मरणों के धुधले आलोक मे मैं उन्हे फिर पहिचान सकू।

इनके प्रकाशन के सम्बन्ध में मैंने कभी कुछ सोचा ही नहीं। चिन्तन की प्रत्येक उलझन और भावना के हर एक स्पन्दन के साथ छापेखाने का सुरम्य चित्र मेरे सामने नहीं आता। इसके अतिरिक्त

इन संस्मरणों के आधार प्रदर्शनी की वस्तु न हो कर मेरी अक्षय-ममता के पात्र रहे हैं। उन्हें दूसरों से आदर मिल सकेगा इसकी परीक्षा से प्रतीक्षा रुचिकर जान पड़ी।

इन स्मृति-चित्रों में मेरा जीवन भी आ गया है। यह स्वाभाविक भी था। अँधेरे की वस्तुओं को हम अपने प्रकाश की धुँधली या उजली परिधि में लाकर ही देख पाते हैं, उसके बाहर तो वे अनन्त अन्धकार के अंश हैं। मेरे जीवन के परिधि के भीतर खड़े होकर चरित्र जैसा परिचय दे पाते हैं वह बाहर रूपान्तरित हो जायगा। फिर जिस परिचय के लिए कहानीकार अपने कल्पित पात्रों को वास्तविकता से सजा कर निकट लाता है उसी परिचय के लिए मैं अपने पथ के साथियों को कल्पना का परिधान पहना कर दूरी की सृष्टि क्यों करती! परन्तु मेरा निकटता-जनित आत्मविज्ञापन उस राख से अधिक महत्व नहीं रखता जो आग को बहुत समय तक सजीव रखने के लिए ही अंगारों को घेरे रहती है। जो इसके पार नहीं देख सकता वह इन चित्रों के हृदय तक नहीं पहुँच सकता।

प्रस्तुत संग्रह में ग्यारह संस्मरण कथायें जा सकी हैं। उनसे पाठकों का सस्ता मनोरञ्जन हो सके ऐसी कामना करके मैं इन क्षत-विक्षत जीवनों को खिलौनों की हाट में नहीं रखना चाहती। यदि इन अधूरी रेखाओं और धुँधले रङ्गों की समष्टि में किसी को अपनी छाया की एक रेखा भी मिल सके तो यह सफल है अन्यथा अपनी स्मृति की सुरक्षित सीमा से इसे बाहर लाकर मैंने अन्याय ही किया है।

जन्माष्टमी '४१
प्रयाग

महादेवी

एक

रामा हमारे यहाँ कब आया यह न मैं बता सकती हूँ और न मेरे भाई-बहिन। बचपन में जिस प्रकार हम बाबू जी की विविधता भरी मेज से परिचित थे जिसके नीचे दोपहर के सन्नाटे में हमारे खिलौनो की सृष्टि बसती थी, अपने लोहे के स्प्रिङ्गदार विशाल पलङ्ग को जानते थे जिस पर सो कर हम कच्छ-मत्स्यावतार जैसे लगते थे और मा के शङ्ख-घडियाल से घिरे ठाकुर जी को पहचानते थे जिनका भोग अपने मुह में अन्तर्धान कर लेने के प्रयत्न मे हम आधी आँखें मीच कर बगुले के मनोयोग से घंटी की टन-टन गिनते थे, उसी प्रकार नाटे, काले और गठे शरीरवाले रामा के बडे नखो से लम्बी शिखा तक हमारा सनातन परिचय था।

साप के पेट जैसी सफेद हथेली और पेड की टेढी मेढी गाठदार टहनियो जैसी उँगलियोंवाले हाथ की रेखा-रेखा हमारी जानी बूझी थी, क्योंकि मुँह धोने से लेकर सोने के समय तक हमारा उससे जो विग्रह चलता रहता था उसकी अस्थायी सन्धि केवल कहानी सुनते समय होती थी। दस भिन्न दिशाये खोजती हुई उँगलियो के बिखरे कुटुम्ब को बडे बूढे के समान सँभाले हुए काले स्थूल पैरो की आहट तक हम जान गए थे क्योंकि कोई नटखटपन करके हौले से भागने पर भी वे मानो पख लगाकर हमारे छिपने के स्थान मे जा पहुँचते थे।

शैशव की स्मृतियो मे एक विचित्रता है। जब हमारी भावप्रवणता गम्भीर और प्रशान्त होती है तब अतीत की रेखाये कुहरे मे से स्पष्ट होती हुई वस्तुओं के समान अनायास ही स्पष्ट-से-स्पष्टतर होने लगती हैं पर जिस समय हम तर्क से उनकी उपयोगिता सिद्ध करके स्मरण

करने बैठते हैं उस समय पत्थर फेकने से हट कर मिल जाने वाली, पानी की काई के समान विस्मृति उन्हें फिर फिर ढक लेती है।

रामा के सकीर्ण माथे पर खूब घनी भौहे और छोटी छोटी स्नेह-तरल आँखें कभी कभी स्मृति-पट पर अंकित हो जाती हैं और कभी धुधली होते होते एकदम खो जाती हैं। किसी थके झुंझलाये शिल्पी की अन्तिम भूल जैसी अनगढ मोटी नाक, सास के प्रवाह से फैले हुए से नथुने, मुक्त हँसी से भर कर फूले हुए से ओठ तथा काले पत्थर की प्याली में दही की याद दिलाने वाली सघन और सफेद दन्तपक्ति के सम्बन्ध में भी यही सत्य है।

रामा के बालों को तो आध इच से अधिक बढने का अधिकार ही नहीं था इसी से उसकी लम्बी शिखा को साम्य की दीक्षा देने के लिये हम कैंची लिए घूमते रहते थे। पर वह शिखा तो म्याऊँ का ठौर थी क्योंकि न तो उसका स्वामी हमारे जागते हुए सोता था और न उसके जागते हुए हम ऐसे सदनुष्ठान का साहस कर सकते थे।

कदाचित् आज कहना होगा कि रामा कुरूप था, परन्तु तब उससे भव्य साथी की कल्पना भी हमे असह्य थी।

वास्तव में जीवन, सौन्दर्य की आत्मा है पर वह सामञ्जस्य की रेखाओं में जितनी मूर्तिमत्ता पाता है उतनी विषमता में नहीं। जैसे हम बाह्य रूपों की विविधता मे उलझते जाते हैं वैसे वैसे उनके मूलगत जीवन को भूलते जाते हैं। बालक स्थूल विविधता से विशेष परिचित नहीं होता इसी से वह केवल जीवन को पहचानता है। जहा उसे जीवन मे स्नेह सद्भाव की किरणें फूटती जान पडती हैं वहा वह व्यक्त विषम रेखाओं की उपेक्षा कर डालता है और जहा द्वेष, घृणा आदि के

धूम से जीवन ढका रहता है वहा वह वाह्य सामञ्जस्य को भी ग्रहण नहीं करता।

इसी से रामा हमे बहुत अच्छा लगता था। जान पडता है उसे भी अपनी कुरूपता का पता नहीं था तभी तो वह केवल एक मिर्जई और घुटनो तक ऊँची धोती पहनकर अपनी कुडौलता के अधिकाश की प्रदर्शनी करता रहता था। उसके पास सजने के उपयुक्त सामग्री का अभाव नहीं था क्योंकि कोठरी मे अस्तर लगा लम्बा कुरता, बँधा हुआ साफा, बुन्देलखण्डी जूते और गठीली लाठी किसी शुभ मुहूर्त्त की प्रतीक्षा करते जान पडते थे। उनकी अखण्ड प्रतीक्षा और रामा की अटूट उपेक्षा से द्रवित होकर ही कदाचित् हमारी कार्य-कारिणी समिति में यह प्रस्ताव नित्य सर्वमत से पास होता रहता था कि कुरते की बाहों में लाठी को अटका कर खिलौनो का परदा बनाया जावे, डलिया जैसे साफे को खूटी से उतार कर उसें गुड़ियों का हिंडोला बनने का सम्मान दिया जावे और बुन्देलखण्डी जूतों को हौज में डालकर गुड्डों के जल-विहार का स्थायी प्रबन्ध किया जावे। पर रामा अपने अँधेरे दुर्ग के चर्रमर्र में डाटते हुए द्वार को इतनी ऊची अर्गला से बन्द रखता था कि हम स्टूल पर खडे होकर भी छापा न मार सकते थे।

रामा के आगमन की जो कथा हम बडे होकर सुन सके वह भी उसी के समान विचित्र है। एक दिन जब दोपहर को मा बडी, पापड आदि के अक्षय-कोष को धूप दिखा रही थी तब न जाने कब दुर्बल और क्लान्त रामा आगन के द्वार की देहली पर बैठकर किवाड से सिर टिकाकर निश्चेष्ट हो रहा। उसे भिखारी समझ जब उन्होंने निकट जाकर प्रश्न किया तब वह 'ए मताई ए रामा तो भूखन के

मारे जा चलो' कहता हुआ उनके पैरों पर लोट गया। दूध मिठाई आदि का रसायन देकर माँ जब रामा को पुनर्जीवन दे चुकीं तब समस्या और भी जटिल हो गई, क्योंकि भूख तो ऐसा रोग नहीं जिसमें उपचार का क्रम टूट सके।

वह बुन्देलखण्ड का ग्रामीण बालक विमाता के अत्याचार से भाग कर मागता खाता इन्दौर तक जा पहुँचा था जहा न कोई अपना था और न रहने का ठिकाना। ऐसी स्थिति में रामा यदि मा की ममता का सहज ही अधिकारी बन बैठा तो आश्चर्य क्या!

उस दिन सन्ध्या समय जब बाबू जी लौटे तो लकडी रखने की कोठरी के एक कोने में रामा के बडे बडे जूते विश्राम कर रहे थे और दूसरे में लम्बी लाठी समाधिस्थ थी। और हाथ-मुह धोकर नये सेवाव्रत में दीक्षित रामा हक्का बक्का-सा अपने कर्तव्य का अर्थ और सीमा समझने में लगा हुआ था।

बाबू जी तो उसके अपरूप रूप को देखकर विस्मय-विमुग्ध हो गए। हँसते हँसते पूछा—यह किस लोक का जीव ले आये हैं धर्म्मराज जी? माँ के कारण हमारा घर अच्छा खासा जू बना रहता था। बाबू जी जब लौटते तब प्राय. कभी कोई लगडा भिखारी बाहर के दालान में भोजन करता रहता, कभी कोई सूरदास पिछवाडे के द्वार पर खजडी बजा कर भजन सुनाता होता, कभी पडोस का कोई दरिद्र बालक नया कुरता पहन कर आगन में चौकडी भरता दिखाई देता और कभी कोई वृद्धा ब्राह्मणी भडारघर की देहली पर सीधा गठियाते मिलती।

बाबू जी ने माँ के किसी कार्य के प्रति कभी कोई विरक्ति नहीं प्रकट की पर उन्हें चिढाने में वे सुख का अनुभव करते थे।

रामा को भी उन्होंने क्षण भर का अतिथि समझा, पर माँ शीघ्रता में कोई उत्तर न खोज पाने के कारण बहुत उद्विग्न होकर कह उठीं 'मैंने खास अपने लिए इसे नौकर रख लिया है।'

जो व्यक्ति कई नौकरों के रहते हुए भी क्षण भर विश्राम नहीं करता वह केवल अपने लिए नौकर रखे यही कम आश्चर्य्य की बात नहीं, उस पर ऐसा विचित्र नौकर। बाबूजी का हसते हसते बुरा हाल हो गया—विनोद से कहा—'ठीक ही है, नास्तिक जिनसे डर जावे ऐसे, खास साचे में ढले सेवक ही तो धर्म्मराज जी की सेवा मे रह सकते हैं।'

उन्हें अज्ञातकुलशील रामा पर विश्वास नहीं हुआ, पर मा से तर्क करना व्यर्थ होता, क्योंकि वे किसी की पात्रता अपात्रता का मापदण्ड अपनी सहज समवेदना ही को मानती थीं। रामा की कुरूपता का आवरण भेद कर उनकी सहानुभूति ने जिस सरल हृदय को परख लिया उसमें अक्षय सौन्दर्य्य न होगा ऐसा सन्देह उनके लिए असम्भव था।

इस प्रकार रामा हमारे यहां रह गया पर उसका कर्तव्य निश्चित करने की समस्या नहीं सुलझी।

सब कामों के लिए पुराने नौकर थे और अपने पूजा और रसोईघर का कार्य्य मा किसी को सौंप ही नहीं सकती थीं। आरती, पूजा आदि के सम्बन्ध में उनका नियम जैसा निश्चित और अपवादहीन था भोजन बनाने के सम्बन्ध में उससे कम नहीं।

एक ओर यदि उन्हे विश्वास था कि उपासना उनको आत्मा के लिए अनिवार्य्य है तो दूसरी ओर दृढ धारणा थी कि उनका स्वयं भोजन बनाना हम सबके शरीर के लिए एकान्त आवश्यक है।

हम सब एक दूसरे से दो-दो वर्ष छोटे-बड़े थे, अतः हमारे अबोध

और समझदार होने के समय में विशेष अन्तर नहीं रहा। निरन्तर यज्ञ-ध्वंस में लगे दानवों के समान हम मा के सभी महान् अनुष्ठानों में वाधा डालने की ताक में मडराते रहते थे, इसी से वे रामा को, हम विद्रोहियों को वश में रखने का गुरु कर्तव्य सौंपकर कुछ निश्चिन्त हो सकीं।

रामा सवेरे ही पूजा-घर साफ कर वहा के वर्तनों को नीवू से चमका देता—तव वह हमें उठाने आता। उस वडे पलग पर सवेरे तक हमारे सिर-पैर की दिशा और स्थितियों में न जाने कितने उलट-फेर हो चुकते थे। किसी की गर्दन को किसी का पाव नापता रहता था, किसी के हाथ पर किसी का सर्वाङ्ग तुलता होता था और किसी की साँस रोकने के लिए किसी की पीठ दीवार वनी मिलती थी। सव परिस्थितियों का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिए रामा का कठोर हाथ कोमलता के छद्म-वेश में, रजाई या चादर पर एक छोर से दूसरे छोर तक घूम आता था और तव वह किसी को गोद के रथ, किसी को कधे के घोडे पर तथा किसी को पैदल ही, मुखप्रक्षालन जैसे समारोह के लिए ले जाता।

हमारा मुह-हाथ धुलाना कोई सहज अनुष्ठान नहीं था क्योंकि रामा को 'दूध वतासा राजा खाय' का महामन्त्र तो लगातार जपना ही पडता था, साथ ही हम एक दूसरे का राजा वनना भी स्वीकार नहीं करना चाहते थे। रामा जव मुझे राजा कहता तव नन्हे वावू चिड़िया की चोंच जैसा मुह खोल कर वोल उठता 'लामा इन्हें कौं लाजा कहते हो ?' र कहने में भी असमर्थ उस छोटे पुरुष का दम्भ कदाचित् मुझे वहुत अस्थिर कर देता था। रामा के एक हाथ की चक्रव्यूह जैसी उङ्गलियों में मेरा सिर अटका रहता था और उसके दूसरे हाथ की तीन गहरी रेखाओं वाली हथेली सुदर्शन चक्र के समान मेरे मुख पर मलिनता की खोज में घूमती रहती थी। इतना कष्ट सहकर भी दूसरों को राजत्व

का अधिकारी मानना अपनी असमर्थता का ढिंढोरा पीटना था, इसी से मैं साम दाम दण्ड भेद के द्वारा रामा को बाध्य कर देती कि वह केवल मुझी को राजा कहे। रामा ऐसे महारथियों का सन्तुष्ट करने का अमोघ मन्त्र जानता था। वह मेरे कान में हौले से कहता 'तुमई बड्डे राजा हौ जू, नन्हे नइयाँ' और कदाचित् यही नन्हे के कान में भी दोहराया जाता क्योंकि वह उत्फुल्ल हो कर मजन की डिबिया में नन्ही उँगली डालकर दातों के स्थान में ओठ माजने लगता। ऐसे काम के लिए रामा का घोर निषेध था, इसी से मैं उसे गर्व से देखती मानो वह सेनापति की आज्ञा का उल्लघन करने वाला मूर्ख सैनिक हो।

तब हम तीनों मूर्तिया एक पंक्ति में प्रतिष्ठित कर दी जातीं और रामा छोटे बडे चम्मच, दूध का प्याला, फलों की तश्तरी आदि लेकर ऐसे विचित्र और अपनी अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए व्याकुल देवताओं की अर्चना के लिए सामने आ बैठता। पर वह था बड़ा घाघ पुजारी। न जाने किस साधना के बल से देवताओ को आख मूदकर कौव्वे द्वारा पुजापा पाने को उत्सुक कर देता। जैसे ही हम आंख मूदते वैसे ही किसी के मुह मे अगूर, किसी के दातो में बिस्कुट और किसी के ओठों में दूध का चम्मच जा पहुँचता। न देखने का तो अभिनय ही था क्योंकि हम सभी अधखुली आखों से रामा की काली, मोटी उँगलियों की कलाबाजी देखते ही रहते थे। और सच तो यह है कि मुझे कौव्वे की काली कठोर और अपरिचित चोंच से भय लगता था। यदि कुछ खुली आखों से मैं काल्पनिक कौव्वे और उसकी चोंच में रामा के हाथ और उँगलियों को न पहचान लेती तो मेरा भोग का लालच छोड कर उठ भागना अवश्यम्भावी था।

जलपान का विधान समाप्त होते ही रामा की तपस्या की इति

नहीं हो जाती थी। नहाते समय आंख को साबुन के फेन ने तरंगित और कान को सूखा द्वीप बनने से बचाना, कपड़े पहनते समय उनके उलटे सीधे रूपों में अतर्क वर्ण-व्यवस्था बनाये रहना, खाते समय भोजन की मात्रा और भक्षा की सीमा में अन्याय न होने देना, खेलते समय यथावश्यकता हमारे हाथी, घोड़ा, उड़न-खटोला आदि के अभाव को दूर करना और सोते समय हम पर पंख जैसे हाथों को फैला कर कथा सुनाते-सुनाते हमें स्वप्न-लोक के द्वार तक पहुँचा आना रामा का ही कर्तव्य था।

हम पर रामा की ममता जितनी अथाह थी, उस पर हमारा अत्याचार भी उतना ही सीमाहीन था। एक दिन दशहरे का मेला देखने का हठ करने पर रामा बहुत अनुनय-विनय के उपरान्त मा से, हमें कुछ देर के लिए ले जाने की अनुमति पा सका। खिलौने खरीदने के लिए जब उसने एक को कन्धे पर बैठाया और दूसरे को गोद लिया तब मुझे उंगली पकड़ाते हुए बार-बार कहा 'उंगरिया जिन छोड़ियो राजा भइया'। सिर हिला कर स्वीकृति देते देते ही मैंने उङ्गली छोड़ कर मेला देखने का निश्चय कर लिया। भटकते-भटकते और दबने से बचते-बचते जब मुझे भूख लगी तब रामा का स्मरण आना स्वाभाविक था। एक मीठाई की दूकान पर खड़े हो कर मैंने यथासम्भव उद्विग्नता छिपाते हुए प्रश्न किया 'क्या तुमने रामा को देखा है? वह खो गया है।' बूढ़े हलवाई ने धुंधली आंखों में वात्सल्य भर कर पूछा 'कैसा है तुम्हारा रामा?' मैंने ओठ दबा कर सन्तोष के साथ कहा 'बहुत अच्छा है।' इस हुलिया से रामा को पहचान लेना कितना असम्भव था यह जानकर ही कदाचित् वृद्ध कुछ देर वहीं विश्राम कर लेने के लिए आग्रह करने लगा। मैं हार तो मानना नहीं चाहती थी, परन्तु पांव थक चुके

थे और मिठाइयों से सजे थालों में कुछ कम निमन्त्रण नहीं था, इसी से दूकान के एक कोने में बिछे टाट पर सम्मान्य अतिथि की मुद्रा में बैठ कर मैं बूढ़े से मिले मिठाई रूपी अर्घ्य को स्वीकार करते हुए उसे अपनी महान यात्रा की कथा सुनाने लगी।

वहां मुझे ढूंढ़ते-ढूंढते रामा के प्राण कण्ठगत हो रहे थे। सन्ध्या समय जब सबसे पूछते-पूछते बड़ी कठिनाई से रामा उस दूकान के सामने पहुँचा तब मैंने विजय गर्व से फूलकर कहा 'तुम इतने बड़े होकर भी खो जाते हो रामा!' रामा के कुम्हलाये मुख पर ओस के बिन्दु जैसे आनन्द के आंसू ढुलक पड़े। वह मुझे घुमा घुमाकर सब ओर से इस प्रकार देखने लगा मानो मेरा कोई अग मेले में छूट गया हो। घर लौटने पर पता चला कि बडों के कोश में छोटों की ऐसी वीरता का नाम अपराध है, पर मेरे अपराध को अपने ऊपर लेकर डाट-फटकार भी रामा ने ही सही और हम सबको सुलाते समय उसकी वात्सल्यभरी थपकियों का विशेष लक्ष्य भी मैं ही रही।

एक बार अपनी और परायी वस्तु का सूक्ष्म और गूढ अन्तर स्पष्ट करने के लिए रामा चतुर भाष्यकार बना। बस फिर क्या था! कहां से कौन सी परायी चीज लाकर रामा की छोटी आंखों को निराश विस्मय से लबालब भर दें इसी चिन्ता में हमारे मस्तिष्क एकबारगी क्रियाशील हो उठे।

हमारे घर से एक ठाकुर साहब का घर कुछ इस तरह मिला हुआ था कि एक छत से दूसरी छत तक पहुँचा जा सकता था—हां राह एक बालिश्त चौडी मुडेर मात्र थी जहां से पैर फिसलने पर पाताल नाप लेना सहज हो जाता।

उस घर के आगन में लगे फूल परायी वस्तु की परिभाषा में आ सकते हैं यह निश्चित कर लेने के उपरान्त हम लोग एक दोपहर को, केवल रामा को खिझाने के लिए उस आकाशमार्ग से फूल चुराने चले। किसी का भी पैर फिसल जाता तो कथा और ही होती पर भाग्य से हम दूसरी छत तक सकुशल पहुँच गए। नीचे के जीने की अन्तिम सीढी पर एक कुत्ती नन्हे नन्हे बच्चे लिए बैठी थी जिन्हें देखते ही हमें वस्तु के सम्बन्ध मे अपना निश्चय बदलना पड़ा। पर ज्यों ही हमने एक पिल्ला उठाया त्यों ही वह निरीह-सी माता अपने इच्छा भरे अधिकार की घोषणा से धरती आकाश एक करने लगी। बैठक से जब कुछ अस्त-व्यस्त भाव वाले गृहस्वामी निकल आये और शयनागार से जब आलस्यभरी गृहस्वामिनी दौड पडीं तब हम बडे असमञ्जस में पड गए। ऐसी स्थिति में क्या किया जाता है यह तो रामा के व्याख्यान में था ही नहीं, अत. हमने अपनी बुद्धि का सहारा लेकर सारा मन्तव्य प्रकट कर दिया, कहा 'हम छत की राह से फूल चुराने आये हैं।' गृहस्वामी हँस पडे—पूछा 'लेते क्यों नहीं?' उत्तर और भी गम्भीर मिला 'अब कुत्ती का पिल्ला चुरायेंगे।' पिल्ले को दबाये हुए जब तक हम उचित मार्ग से लौटे तब तक रामा ने हमारी डकैती का पता लगा लिया था। अपने उपदेश रूपी अमृतवृक्ष में यह विषफल लगते देख वह एकदम अस्थिर हो उठा होगा क्योंकि उसने आकाशी डाकुओं के सरदार को दोनों कानों से पकडकर अधर में उठाते हुए पूछा 'कहो जू, कहो जू, किते गए रहे' पिनपिन करके रोना मुझे बहुत अपमानजनक लगता था इसी से दातों से ओठ दबाकर मैंने यह अभूतपूर्व दण्ड सहा और फिर बहुत सयत क्रोध के साथ मा से कहा 'रामा ने मेरे कान खींचकर टेढे भी कर दिये हैं और बडे भी—अब डाक्टर को बुलाकर इन्हें ठीक करवा दो और रामा को अँधेरी कोठरी

में बन्द कर दो।' व तो हमारे अपराध से अपरिचित थीं और रामा प्राण रहते बता नहीं सकता था इसलिए उसे अच्चों से दुर्व्यवहार न करने के सम्बन्ध में एक मनोवैज्ञानिक उपदेश सुनना पड़ा। वह अपने व्यवहार के लिए सचमुच लज्जित था, पर जितना ही वह मनाने का प्रयत्न करता था उतना ही उसके राजा भइया को कान का दर्द याद आता था। फिर भी सन्ध्या समय रामा को खिन्न मुद्रा से बाहर बैठा देखकर मैंने 'गीत सुनाओ' कह कर सन्धि का प्रसताव कर ही दिया। रामा को एक भजन भर आता था 'ऐसो सिय रघुबीर भरोसो' और उसे वह जिस प्रकार गाता था उससे पेड पर के चिड़िया, कौवे तक उड सकते थे। परन्तु हम लोग उस अपूर्व गायक के अद्‌भुत श्रोता थे—रामा केवल हमारे लिए गाता और हम केवल उसके लिए सुनते थे।

मेरा बचपन समकालीन बालिकाओं से कुछ भिन्न रहा, इसी से रामा का उसमें विशेष महत्व है।

उस समय परिवार मे कन्याओं की अभ्यर्थना नहीं होती थी। आगन में गानेवालिया, द्वार पर नौबतवाले और परिवार के बूढे से लेकर बालक तक सब पुत्र की प्रतीक्षा में बैठे रहते थे। जैसे ही दबे स्वर से लक्ष्मी के आगमन का समाचार दिया गया वैसे ही घर के एक कोने से दूसरे तक एक दरिद्र निराशा व्याप्त हो गई। बडी बूढिया सकेत से मूक गानेवालियों को जाने के लिए कह देतीं और बडे बूढे इशारे से नीरव बाजे वालों को विदा देते—यदि ऐसे अतिथि का भार उठाना परिवार की शक्ति से बाहर होता तो उसे बैरग लौटा देने के उपाय भी सहज थे।

हमारे कुल में कब ऐसा हुआ यह तो पता नहीं पर जब दीर्घकाल

तक कोई देवी नहीं पधारीं तब चिन्ता होने लगी, क्योंकि जैसे अश्व के बिना अश्वमेध नहीं हो सकता वैसे ही कन्या के बिना कन्यादान का महायज्ञ सम्भव नहीं।

बहुत प्रतीक्षा के उपरान्त जब मेरा जन्म हुआ तब बाबा ने इसे अपनी कुलदेवी दुर्गा का विशेष अनुग्रह समझा और आदर प्रदर्शित करने के लिए अपना फारसी ज्ञान भूल कर एक ऐसा पौराणिक नाम ढूढ लाये जिसकी विशालता के सामने कोई मुझे छोटा मोटा घर का नाम देने का भी साहस न कर सका। कहना व्यर्थ है कि नाम के उपयुक्त बनाने के लिए सब बचपन से ही मेरे मस्तिष्क में इतनी विद्या-बुद्धि भरने लगे कि मेरा अबोध मन विद्रोही हो उठा। निरक्षर रामा की स्नेह-छाया के बिना मैं जीवन की सरलता से परिचित हो सकती थी या नहीं इसमें सन्देह है। मेरी पट्टी पुज चुकी थी और मैं, आ पर उँगली रख कर आदमी के स्थान में, आम, आलमारी, आज आदि के द्वारा मन की बात कह लेती थी। ऐसी दशा में मैं अपने भाई बहिनों के निकट शुक्राचार्य से कम महत्त्व नहीं रखती थी। मुझे उनके सभी कार्यों का समर्थन या विरोध पुस्तक में ढूढ लेने की क्षमता प्राप्त थी और मेरी इस क्षमता के कारण उन्हें निरन्तर सतर्क रहना पडता था। नन्हे बाबू उछला नहीं कि मैंने किताब खोल कर पढा 'बन्दर नाच दिखाने आया', मुन्नी रूठी नहीं कि मैंने सुनाया 'रूठी लडकी कौन मनावे, गरज पड़े तब दोडी आवे।' वे बेचारे मेरे शास्त्र-ज्ञान से बहुत चिन्तित रहते थे, क्योंकि मेरे किसी कार्य के लिए दृष्टान्त ढूढ लेने का साधन उनके पास नहीं था। पर अक्षरज्ञानी शुक्राचार्य्य निरक्षर रामा से पराजित हो जाते थे। उसके पास कथा, कहानी और कहावत आदि का जैसा वृहत् कोष था, वैसा सौ पुस्तकों में भी न समाता। इसी से जब मेरा शास्त्र-ज्ञान

महाभारत का कारण बनता तब वह न्यायाधीश होकर और अपना निर्णय सबके कान में सुनाकर तुरन्त सन्धि करा देता ।

मेरे पडित जी से रामा का कोई विरोध न था, पर जब खिलौनों के बीच ही में मौलवी साहब, सगीतशिक्षक और ड्राइंगमास्टर का आविर्भाव हुआ तब रामा का हृदय क्षोभ से भर गया । कदाचित् वह जानता था कि इतनी योग्यता का भार मुझसे न सँभल सकेगा ।

मौलवी साहब से तो मै इतना डरने लगी थी कि एक दिन पढने से बचने के लिए बडे से झावे मे छिप कर बैठना पडा । अभाग्य से झाबा वही था जिसमे बाबा के भेजे आमों में से दो-चार शेष भी थे उन्हें निकाल कर कुछ और भरने के लिए रामा जब पूरे झाबे को, उसके भारीपन पर विस्मित होता हुआ, मा के सामने उठा लाया तब समस्या बहुत जटिल हो गई । जैसे ही उसने ढक्कन हटाया कि मुझे पलायमान होने के अतिरिक्त कुछ न सूझा । अन्त रामा और माँ के प्रयत्न ने मुझे उर्दू पढने से छुट्टी दिला दी ।

ड्राइग-मास्टर से मुझे कोई शिकायत नही रही, क्योंकि वे खेलने से रोकते नहीं थे । सब कागजों पर दो लकीरें सीधी खड़ी करके और उन पर एक गोला रखकर मैं रामा का चित्र बना देती थी—जब किसी और का बनाना होता तब इसी ढाँचे मे कुछ पच्चीकारी कर दी जाती थी ।

नारायण महाराज से न मैं प्रसन्न रहती थी न रामा । जब उन्होंने पहले दिन सगीत सीखने के सम्बन्ध मे मुझसे प्रश्न किया तब मैंने बहुत विश्वास के साथ बता दिया कि मैं रामा से सीखती हूँ—जब उन्होंने सुनाने का अनुरोध किया तब मैंने रामा का वही भजन ऐसी विचित्र भावभगी से सुना दिया कि वे अवाक् हो रहे । उस पर भी जब

उन्होंने मेरे सेवक गुरु रामा को अपने से बड़ा और योग्य गायक नहीं माना तब मेरा अप्रसन्न हो जाना स्वाभाविक था।

रामा के बिना भी संसार का काम चल सकता है यह हम नहीं मान सकते थे। मा जब १०-१५ दिन के लिए नानी को देखने जातीं तब रामा को घर और बाबू जी की देख-भाल के लिए रहना पड़ता था। बिना रामा के हम जाने के लिए किसी प्रकार भी प्रस्तुत नहीं होते, अतः वे हमें भी छोड़ जातीं।

बीमारी के सम्बन्ध में रामा से अधिक सेवापरायण और सावधान व्यक्ति मिलना कठिन था। एक बार जब छोटे भाई के चेचक निकली तब वह शेष को लेकर ऊपर के खण्ड में इस तरह रहा कि हमें भाई का स्मरण ही नहीं आया। रामा की सावधानी के कारण ही मुझे कभी चेचक नहीं निकली।

एक बार और उसी के कारण मैं एक भयानक रोग से बच सकी हूँ। इन्दौर में प्लेग फैला हुआ था और हम शहर से बाहर रहते थे। मा और कुछ महीनों की अवस्था वाला छोटा भाई इतना बीमार था कि बाबू जी हम तीनों की खोज-खबर लेने का अवकाश कम पाते थे। ऐसे अवसरों पर रामा अपने स्नेह से हमें इस प्रकार घेर लेता था कि और किसी अभाव की अनुभूति ही असम्भव हो जाती थी।

जब हम सघन आम की डाल में पड़े झूले पर बैठ कर रामा की विचित्र कथाओं को बड़ी तन्मयता से सुनते थे तभी एक दिन हल्के से ज्वर के साथ मेरे कान के पास गिल्टी निकल आई। रामा ने एक बुढ़िया की कहानी सुनाई थी जिसके फूले पैर में से भगवान ने एक वीर मेंढक उत्पन्न कर दिया था। मैंने रामा को यह समाचार देते हुए कहा, 'मालूम होता है मेरे कान से कहानी वाला मेंढक निकलेगा'। वह

बेचारा तो सन्न हो गया। फिर ईंट के गर्म टुकडे को गीले कपडे मे लपेट कर उसने उसे कितना सेंका यह बताना कठिन है। सेकते सेकते वह न जाने क्या बडबडाता रहता था जिसमे कभी देवी, कभी हनुमान और कभी भगवान का नाम सुनाई दे जाता था। दो दिन और दो रात वह मेरे बिछौने के पास से हटा ही नहीं—तीसरे दिन मेरी गिल्टी बैठ गई पर रामा को तेज बुखार चढ आया। उसके गिल्टी निकली, चीरी गई और वह बहुत बीमार रहा, पर उसे सन्तोष था कि मैं सब कष्टों से बच गई। जब दुर्बल रामा के बिछौने के पास मा हमे ले जा सकीं तब हमें देखकर उसके सूखे ओठ मानो हँसी से भर आये, धँसी आखें उत्साह में तैरने लगीं और शिथिल शरीर मे एक स्फूर्ति तरगित हो उठी। मा ने कहा 'तुमने इसे बचा लिया था रामा! जो हम तुम्हें न बचा पाते तो जीवन भर पछतावा रह जाता।' उत्तर में रामा बढ़े हुए नाखून वाले हाथ से मा के पैर छू कर अपनी आखें पोंछने लगा। रामा जब अच्छा हो गया तब मा प्रायः कहने लगीं 'रामा अब तुम घर बसा लो जिससे बाल-बच्चों का सुख देख सको।' 'बाई की बाते! मोय नासमिटे अपनन खौ का कनने हैं, मोरे राजा हरे बने रहे—जेई अपने रामा की नैय्या पार लगा देहैं' ही रामा का उत्तर रहता था। वह अपने भावी बच्चों को लक्ष्य कर इतनी बाते सुनाता था कि हम उसके बच्चों की हवाई स्थिति से ही परिचित नही हो गए थे, उन्हे अपने प्रतिद्वन्दी के रूप मे भी पहचान गए थे। हमें विश्वास था कि यदि उसके बच्चे हमारे जैसे होते तो वह उन्हें कभी नासमिटा, मुह-झौंसा आदि कह कर स्मरण न करता।

फिर एक दिन जब अपनी कोठरी से लाठी, जूता आदि निकाल कर और गुलाबी साफा बाँध कर रामा आगन में आ खडा हुआ

तब हम सब बहुत सभीत हो गए क्योंकि ऐसी सज-धज में तो हमने उसे कभी देखा ही नहीं था। लाठी पर सन्देह भरी दृष्टि डालकर मैंने पूछ ही तो लिया 'क्या तुम उन बाल-बच्चों को पीटने जा रहे हो रामा?' रामा ने लाठी घुमाकर हँसते-हँसते उत्तर दिया 'हां राजा भइया ऐसी दें हो नासमिटन के' पर रामा चला गया और न जाने कितने दिनों तक हमें कल्लू के मा के कठोर हाथों से बचने के लिए नित्य नवीन उपाय सोचने पडे।

हमारे लिए अनन्त और दूसरों के लिए कुछ समय के उपरान्त एक दिन सवेरे ही केसरिया साफा और गुलाबी धोती में सजा हुआ रामा दरवाजे पर आ खडा हुआ और राजा भइया, राजा भइया पुकारने लगा—हम सब गिरते-पड़ते दौड़ पडे पर बरामदे में सहम कर अटक रहे। रामा तो अकेला नहीं था। उसके पीछे एक लाल धोती का कछोटा लगाये और हाथ में चूडे और पाव में पैजना पहने जो घूंघटवाली स्त्री खडी थी उसने हमें एक साथ ही उत्सुक और सशंकित कर दिया।

मुन्नी जब रामा के कुरते को पकड़ कर झूलने लगी तब नाक की नोक को छू लेने वाले घूंघट में से दो तीक्ष्ण आंखें उसके कार्य का मूक विरोध करने लगीं, नन्हे जब रामा के कंधे पर आसीन होने के लिए जिद करने लगा तब घूंघट में छिपे सिर में एक निषेध-सूचक कम्पन जान पडा और जब मैंने झुक कर उस नवीन मुख को देखना चाहा तब वह मूर्ति घूम कर खडी हो गई। भला ऐसे आगन्तुक से हम कैसे प्रसन्न हो सकते थे। जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे रामा की अँधेरी कोठरी में महाभारत के अंकुर जमते गए और हमारे खेल के संसार में सूखा पडने की सम्भावना बढती गई। हमारे खिलौनों के

नगर बसाने के लिए रामा विश्वकर्मा भी था और मय-दानव भी, पर अब वह अपने गुरु कर्तव्य के लिए अवकाश ही नहीं पाता था। वह आया नहीं कि घूघटवाली मूर्ति पीछे पीछे आ पहुँची और उसके मूक असहयोग से हमारा और रामा का ही नहीं गुड्डे-गुडियों का भी दम घुटने लगता था। इसी से एक दिन हमारी युद्ध-समिति बैठी। राजा को ऊँचे स्थान मे बैठाना चाहिए अतः मैं मेज पर चढ़ कर धरती पर न पहुँचने वाले पैर हिलाती हुई, विराजी, मन्त्री महोदय कुर्सी पर आसीन हुए और सेनापति जी स्टूल पर जमे। तब राजा ने चिन्ता की मुद्रा से कहा 'रामा इसे क्यो लाया है?' मन्त्रीजी ने गम्भीर भाव से सिर हिलाते हुए दोहराया 'रामा इसे क्यों लाया है!' और सेनापति महोदय र न कह सकने की असमथता छिपाने के लिए आखें तरेरते हुए बोले—'छच है इछे कौं लाया है?'

फिर उस विचित्र समिति मे सर्वमत से निश्चित हुआ कि जो जीव हमारे एकछत्र अधिकार की अवज्ञा करने आया है उसे न्याय की मर्यादा के रक्षार्थ दण्ड मिलना ही चाहिए। यह कार्य नियमानुसार सेनापति जी को सौंपा गया।

रामा की बहू जब रोटी बनाती तब नन्हे बाबू चुपके से उसके चौके के भीतर बिस्कुट रख आता, जब वह नहाती तब लकड़ी से उसकी सूखी धोती नीचे गिरा देता। इस प्रकार न जाने कितने दण्ड उसे मिलने लगे पर उसकी ओर से न क्षमा-याचना हुई और न सधि का प्रस्ताव आया। केवल वह अपने विरोध में और अधिक दृढ हो गई और हमारे अपकारों का प्रतिशोध बेचारे रामा से लेने लगी। उसके सांवले मुख पर कठोरता का अभेद्य अवगुण्ठन पडा ही रहता था और उसकी काली पुतलियों पर से क्रोध की छाया उतरती ही न थी, इसी से

हमारे ही समान अबोध रामा पहले हतबुद्धि हो गया, फिर खिन्न रहने लगा और अन्त में विद्रोह कर उठा। कदाचित् उसकी समझ में ही नहीं आता था कि वह अपना सारा समय और स्नेह उस स्त्री के चरणों पर कैसे रख दे और रख दे तो स्वय जिये कैसे ! फिर एक दिन रामा की बहू रूठ कर मायके चल दी।

रामा ने तो मानो किसी अप्रिय बन्धन से मुक्ति पाई, क्योंकि वह हमारी अद्भुत सृष्टि का फिर वही चिर प्रसन्न विधाता बन कर बहू को ऐसे भूल गया जैसे वह पानी की लकीर थी।

पर मा को अन्याय का कोई भी रूप असह्य था—रामा अपनी पत्नी को हमारे पुराने खिलौनों के समान फेंक दे यह उन्हे बहुत अनुचित जान पडा, इसलिए रामा को कर्तव्य-ज्ञान सम्बन्धी विशद और जटिल उपदेश मिलने लगे। इस बार रामा के जाने में वही करुण विवशता जान पडती थी जो उस विद्यार्थी में मिलती है जिसे पिता के स्नेह के कारण मास्टर से पिटने जाना पडता है।

उस बार जाकर फिर लौटना सम्भव न हो सका। बहुत दिनों के बाद पता चला कि वह अपने घर बीमार पडा है, मा ने रुपये भेजे, आने के लिए पत्र लिखा पर उसे जीवन-पथ पर हमारे साथ इतनी ही दूर आना था।

हम सब खिलौने रख कर शून्य दृष्टि से बाहर देखते रह जाते थे। नन्हे बाबू सात समुद्र पार पहुँचना चाहता था, पर उडनेवाला घोडा न मिलने से यात्रा स्थगित हो जाती थी, मुन्नी अपनी रेल पर ससार-भ्रमण करने को विकल थी, पर हरी लाल झडी दिखानेवाले के बिना उसका चलना, ठहरना सम्भव नहीं हो सकता था, मुझे गुडिया का

विवाह करना था, पर पुरोहित और प्रबन्धक के बिना शुभ लग्न टलती चली जाती थी।

हमारी सख्या चार तक पहुँचाने वाला छोटे भइया ढाई वर्ष का हो चुका था और हमारे निर्माण को ध्वस बनाने के अभ्यास मे दिनो-दिन तत्पर होता जा रहा था। उसे खिलौने के बीच मे प्रतिष्ठित कर हम सब बारी बारी से रामा की कथा सुनाने के उपरान्त कह देते थे कि रामा जब गुलाबी साफा बाधकर लाठी लिए हुए लौटेगा तब तुम गडबड़ न कर सकोगे। पर हमारी कहानी के उपसहार के लिए भी रामा कभी न लौटा।

आज मैं इतनी बड़ी हो गई हूँ कि राजा भइया कहलाने का हठ स्वप्न-सा लगता है, बचपन की कथा-कहानियाँ कल्पना जैसी जान पडती हैं और खिलौनों के ससार का सौन्दर्य्य भ्रान्ति हो गया है। पर रामा आज भी सत्य है, सुन्दर है और स्मरणीय है। मेरे अतीत मे खड़े रामा की विशाल छाया वर्तमान के साथ बढती ही जाती है—निर्वाक, निस्तन्द्र पर स्नेहतरल।

३ जुलाई, १९३०

दो

इतने वर्ष बीत जाने पर भी मेरी स्मृति, अतीत के दिन-प्रतिदिन गाढ़े होनेवाले धुन्धलेपन में एक-एक रेखा खींचकर उस करुण-कोमल मुख को मेरे सामने अङ्कित ही नहीं सजीव भी कर देती है।

छोटे गोल मुख की तुलना में कुछ अधिक चौड़ा लगनेवाला पर दो काली रूखी लटों से सीमित ललाट, बचपन और प्रौढ़ता को एक साथ अपने भीतर बन्द कर लेने का प्रयास-सा करती हुई, लम्बी बरौनियोंवाली भारी पलकें और उनकी छाया में डबडबाती हुई सी आँखें, उस छोटे मुख के लिए भी कुछ छोटी सीधी-सी नाक और मानो अपने ऊपर छपी हुई हँसी से विस्मित होकर कुछ खुले रहनेवाले ओठ समय के प्रवाह से फीके भर हो सके हैं, धुल नहीं सके।

घर के सब उजले-मैले, सहज-कठिन कामों के कारण, मलिन रेखा-जाल से गुथी और अपनी शेष लाली को कहीं छिपा रखने का प्रयत्न-सा करती हुई कहीं कोमल, कहीं कठोर हथेलियाँ, काली रेखाओं में जड़े कान्तिहीन नखों से कुछ भारी जान पड़नेवाली पतली उंगलियाँ, हाथों का बोझ सँभालने में भी असमर्थ-सी दुर्बल, रूखी पर गौर बाहें और मारवाड़ी लहँगे के भारी घेर से थकित-से, एक सहज सुकुमारता का आभास देते हुए, कुछ लम्बी उङ्गलियोंवाले दो छोटे-छोटे पैर, जिनकी एड़ियों में आँगन की मिट्टी की रेखा मटमैले महावर सी लगती थी, भुलाये भी कैसे जा सकते हैं! उन हाथों ने बचपन में न जाने कितनी बार, मेरे उलझे बाल सुलझा कर बड़ी कोमलता से बाँध दिये थे। वे

पैर न जाने कितनी वार, अपनी सीखी हुई गम्भीरता भूल कर मेरे लिए द्वार खोलने, आंगन में एक ओर से दूसरी ओर दौड़े थे। किस तरह मेरी अबोध अष्टवर्षीय बुद्धि ने उस से भाभी का सम्बन्ध जोड़ लिया था, यह अब बताना कठिन है। मेरी अनेक सहपाठिनियों के बहुत अच्छी भाभियाँ थीं; कदाचित् उन्हीं की चर्चा सुन-सुन कर मेरे मन ने, जिसने अपनी तो क्या दूर के सम्बन्ध की भी कोई भाभी न देखी थी, एक ऐसे अभाव की सृष्टि कर ली, जिसको वह मारवाड़ी विधवा वधू दूर कर सकी।

बचपन का वह मिशन स्कूल मुझे अब तक स्मरण है, जहाँ प्रार्थना और पाठ्यक्रम की एकरसता से मैं इतनी रुआसी हो जाती थी कि प्रति-दिन घर लौट कर नींद से बेसुध होने तक, सबेरे स्कूल न जाने का बहाना सोचने से ही अवकाश न मिलता था।

उन दिनों मेरी ईर्ष्या का मुख्य विषय नौकरानी की लड़की थी, जिसे चौका-बर्तन करके घर में रहने को तो मिल जाता था। जिस कठोर ईश्वर ने मेरे भाग्य में नित्य स्कूल जाना लिख दिया था, वह मां के ठाकुर जी में से कोई है या मिशन की सिस्टर का ईसू, यह निश्चय न कर सकने के कारण मेरा मन विचित्र दुविधा में पड़ा रहता था। यदि वह मा के ठाकुर जी में है तो आरती-पूजा से जी चुराते ही क्रुद्ध हो कर मेरे घर रहने का समय और कम कर देगा और यदि स्कूल में है तो बहाना बना कर न जाने से पढाई के घटे और बढ़ा देगा, इसी उधेड-बुन में मेरा मन पूजा, आरती, प्रार्थना सब में भटकता ही रहता था।

इस अन्धकार में प्रकाश की एक रेखा भी थी। स्कूल निकट होने के कारण बूढ़ी कल्लू की मां मुझे किताबों के साथ वहा पहुचा भी आती थी

और ले भी आती थी और इस आवागमन के बीच में, कभी सड़क पर लड़ते हुए कुत्ते, कभी उनके भटकते हुए पिल्ले, कभी किसी कोने मे बैठ कर पजों से मुंह धोती हुई बिल्ली, कभी किसी घर के बरामदे मे लटकते हुए पिंजडे में मनुष्य की स्वर-साधना करता हुआ गगाराम, कभी बतख और तीतरो के झुण्ड, कभी तमाशा दिखानेवालों के टोपी लगाये हुए बन्दर, ओढ़नी ओढ़े हुए बंदरिया, नाचनेवाला रीछ आदि स्कूल की एक-रसता दूर करते ही रहते थे।

हमारे ऊँचे घर से कुछ ही हट कर, एक ओर रंगीन, सफेद, रेशमी और सूती कपड़ों से और दूसरी ओर चमचमाते हुए पीतल के बर्तनों से सजी हुई एक नीची-सी दूकान मे जो वृद्ध सेठ जी बैठे रहते थे, उन्हे तो मैंने कभी ठीक से देखा ही नहीं, परन्तु उस घर के पीछेवाले द्वार पर पडे हुए पुराने टाट के परदे के छेद से जो आखें प्राय मुझे आते-जाते देखती रहती थीं उनके प्रति मेरा मन एक कुतूहल से भरने लगा। कभी कभी मन मे आता था कि परदे के भीतर झाक कर देखूँ पर कल्लू की मा मेरे लिए उस जन्तु विशेष से कम नहीं थी जिसकी बात कह-कह कर बच्चों को डराया जाता है। उसका कहना न मानने से वह नहलाते समय मेरे हाल ही में छिदे कान की लौ दुखा सकती थी, चोटी बाँधते समय बालों को खूब खींच सकती थी, कपडे पहनाते समय तग गलेवाले फ्राक को आँखों पर अटका सकती थी, घर में और स्कूल में मेरी बहुत सी झूठी-सच्ची शिकायतें कर सकती थी—साराश यह कि उसके पास प्रतिशोध लेने के बहुत से साधन थे।

परन्तु कल्लू की मा को चाहे उन आँखो की स्वामिनी से मेरा परिचय न भाता हो, पर उसकी कथा सुनाने मे उसे अवश्य रस मिलता रहा। वह अनाथिनी भी है और अभागी भी। बूढे सेठ सब के मना

करते-करते भी इसे अपने इकलौते लडके से ब्याह लाये और उसी साल लड़का बिना बीमारी के ही मर गया। अब सेठ जी का इसकी चञ्चलता के मारे नाक मे दम है। न इसे कही जाने देते है न किसी को अपने घर आने। केवल अमावस, पूनो एक ब्राह्मणी आती है जिसे वे अपने आप खडे रह कर, सीधा दिलवा कर विदा कर देते है। वे वेचारे तो जाति बिरादरी मे भी इसके लिए बुरे बन गये हैं और इसकी निर्लज्जता देखो—ससुर दूकान मे गये नहीं कि यह परदे से लगी नहीं। घर मे कोई देखनेवाला है ही नही। एक ननद है जो शहर मे ससुराल होने के कारण जब तब आ जाती है और तब इसकी खूब ठुकाई होती है इत्यादि इत्यादि सूचनायें कल्लू की माँ की विशेष शब्दावली और विचित्र भाव-भगियों के साथ मुझे स्कूल तक मिलती रहती थी। परन्तु उस समय वे सूचनाए मेरे निकट उतना ही महत्त्व रखती थी, जितनी नानी से सुनी हुई बेला रानी की कहानी। कथा मे बेचैन कर देनेवाला सत्य इतना ही था कि कहानी की राजकुमारी की आँखे पुराने टाट के परदे से सुननेवाली बालिका को नित्य ताकती ही रहती थी। यह स्थिति तो कुछ सुखद नहीं कही जा सकती। यदि सुनी हुई कहानी के सब राजा, रानी, राजकुमार, राजकुमारी, दैत्य, दानव आदि सुनने-वालो को इस प्रकार देखने लगें तो कहानी सुनने का सब सुख चला जावे, यह कल्लू की माँ की कहानी और परदे के छेद से देखनेवाली आखों ने मुझे समझा दिया था।

भूरे टाट मे जडी-सी वे काली आखें मेरी कल्पना का विषय ही बनी रहतीं, यदि एक दिन पानी बरसने से कल्लू की मा रुक न गई होती, पानी थमते ही मैं स्कूल से अकेले ही न चल दी होती और गीली सडक पर उस परदे के सामने ही मेरा पेर न फिसल गया होता। बच्चे गिर

कर प्राय. चोट के कारण न रोकर लज्जा से ही रोने लगते हैं। मेरे रोने का भी कदाचित् यही कारण रहा होगा क्योंकि चोट तो मुझे याद नहीं आती।

कह नहीं सकती कि परदे से निकल कर, कब उन आखों की स्वामिनी ने मुझे आगन में खींच लिया परन्तु सहसा विस्मय से मेरी रुलाई रुक गई। एक दुर्बल पर सुकुमार बालिका जैसी स्त्री अपने अञ्चल से मेरे हाथ और कपडों का कीचड मिला पानी पोंछ रही थी और भीतर दालान से वृद्ध सेठ का कुछ विस्मित स्वर कह रहा था 'अरे यह तो वर्मा साहब की बाई है।'

उसी दिन से वह घर, जिसमें न एक भी झरोखा था न रौशनदान, न एक भी नौकर दिखाई देता था, न अतिथि और न एक भी पशु रहता था न पक्षी, मेरे लिए एक आकर्षण बनने लगा। उस समाधि-जैसे घर में लोहे के प्राचीर से घिरे फूल के समान वह किशोरी बालिका बिना किसी सगी-साथी, बिना किसी प्रकार के आमोद-प्रमोद के, मानो निरन्तर वृद्धा होने की साधना में लीन थी।

वृद्ध एक ही समय भोजन करते थे और वह तो विधवा ठहरी! दूसरे समय भोजन करना ही यह प्रमाणित कर देने के लिए पर्याप्त था कि उसका मन विधवा के सयमप्रधान जीवन से ऊबकर किसी विपरीत दिशा में जा रहा है।

प्राय निराहार और निरन्तर मिताहार से दुर्बल देह से वह कितना परिश्रम करती थी यह मेरी बालक बुद्धि से भी छिपा न रहता था। जिस प्रकार उसका, खँडहर जैसे घर और लम्बे चौड़े आंगन को बैठ-बैठकर बुहारना, आंगन के कुएँ से अपने और ससुर

के स्नान के लिए ठहर-ठहरकर पानी खींचना और धोबी के अभाव मे, मैले कपड़ों को क ठ की मोगरी से पीटते हुए रुक-रुक कर साफ करना, मेरी हँसी का साधन बनता था, उसी प्रकार केवल जलती लकडियो से प्रकाशित, दिन में भी अँधेरी रसोई की कोठरी के घुटते हुए धुएँ में से रह-रह कर आता हुआ खासी का स्वर, कुछ गीली और कुछ रूखी राख से चादी-सोने के समान चमका कर तथा कपड़े से पोंछकर (मारवाड में काम में लाने के समय ही बर्तन पानी से धोये जाते हें) रखते समय शिथिल उँगलियों से छूटते हुए बर्तनों की झनझनाहट मेरे मन में एक नया विषाद भर देती थी।

परन्तु काम चाहे कैसा ही कठिन रहा हो, शरीर चाहे कितना ही क्लान्त रहा हो, मैंने न कभी उसकी हँसी से आभासित मुखमुद्रा में अन्तर पडते देखा और न कभी काम रुकते देखा। और इतने काम में भी उस अभागी का दिन द्रौपदी के चीर से होड लेता था। सबेरे स्नान, तुलसी पूजा आदि में कुछ समय बिताकर ही वह अपने अँधेरे रसोईघर में प ्चती थी, परन्तु दस बजते-बजते ससुर को खिला-पिलाकर, उसी टाट के परदे से मुझे शाम को आने का निमन्त्रण देने के लिए स्वतत्र हो जाती थी। उसके बाद चौका-बर्तन, कूटना-पीसना भी समाप्त हो जाता, परन्तु तब भी दिन का अधिक नहीं तो एक प्रहर शेष रह ही जाता था। दूकान की ओर जाने का निषेध होने के कारण वह अवकाश का समय उसी टाट के परदे के पास बिता देती थी, जहा से कुछ मकानों के पिछवाडे और एक-दो आते-जाते व्यक्ति ही दिख सकते थे, परन्तु इतना ही उसकी चञ्चलता का ढिंढोरा पीटने के लिए पर्याप्त था।

उस १६ वर्ष की युवती की दयनीयता आज समझ पाती हूँ

जिसके जीवन के सुनहरे स्वप्न गुडियो के घरौंदे के समान दुर्दिन की वर्षा मे केवल वह ही नहीं गये, वरन् उसे इतना एकाकी छोड गये कि उन स्वप्नों की कथा कहना भी सम्भव न हो सका।

ऐसी दशा में उसने आठ वर्ष की बालिका को ही अपने सगी-हीन हृदय की सारी ममता सौंप दी, परन्तु वह बालिका तो उसके ससार मे प्रवेश करने मे असमर्थ थी, इसी से उसने उसी के गुडियो-वाले ससार को अपनाया।

वृद्ध भी अपनी बहू के लिए ऐसा निर्दोष साथी पाकर इतने प्रसन्न हुए कि स्वय ही बडे आदर-यत्न से मुझे बुलाने—पहुँचाने लगे।

और मा तो उस माता-पिताहीन विधवा बालिका की कथा सुन-कर ही मुख फेरकर आखे पोंछने लगती थी। इसी से धीरे-धीरे मेरी कुछ नाटी गुड़िया, उसका बेडौल सिर वाला पति, उसकी एक पैर से लँगडी सास, बैठने मे असमर्थ ननद और हाथों के अतिरिक्त सब प्रकार से आकारहीन दोनों बच्चे सब एक-एक कर भाभी की कोठरी मे जा बैठे। इतना ही नहीं उनकी चक्की से लेकर गहनों तक सारी गृहस्थी और डोली से लेकर रेल तक सब सवारिया उसी खँडहर को बसाने लगीं।

भाभी को तो सफेद ओढनी और काला लँहगा या काली ओटनी और सफेद बूटीदार कत्थई लँहगा पहने हुए मैंने देखा था, पर उसकी ननद के लिए हर तीज त्यौहार पर बडे सुन्दर रगीन कपडे बनते थे। कुछ भाभी की बटोरी हुई कतरन से और कुछ अपने घर से लाये हुये कपडों से गुडियों की लज्जा-निवारण का सुचारु प्रबन्ध किया जाता था। भाभी घाघरा, कान्चली आदि अपने वस्त्र सीना जानती थी, अतः

मेरी गुडिया मारवाडिन की तरह शृगार करती थी, मैंने स्कूल मे ढीला पैजामा और घर मे कलीदार कुरता सीना सीखा था, अतः गुड्डा पूरा लाला जान पडता था, चौकोर कपडे के टुकडे के बीच मे छेद करके वही बच्चों के गले मे डाल दिया जाता था, अतः वे किसी आदिम युग की सन्तान से लगते थे।

भाभी के लिए काला अक्षर भैंस बराबर था, इसलिए उस पर मेरी विद्वत्ता की धाक भी सहज ही जम गई थी। प्राय, सभी पशुओं के अग्रेजी नाम बता कर और तस्वीरों वाली किताब से ऑगरेजी की कविता बडे राग से पढकर मैं उसे विस्मित कर चुकी थी, हिन्दी की पुस्तक से 'माता का हृदय', 'भाई का प्रेम' आदि कहानिया सुना कर उसकी आंखे गीली कर चुकी थी और अपने मामा को चिट्ठी लिखने की बात कह कर उसके मन मे बीकानेर के निकट किसी गाव मे रहने वाली बुआ की स्मृति जगा चुकी थी। वह प्रायः लम्बी सास लेकर कहती 'पता नहीं जानती, नहीं तो तुम से एक चिट्ठी लिखवा कर डाल देती।'

सब से कठिन दिन तब आते थे जब वृद्ध सेठ की सौभाग्यवती पुत्री अपने नैहर आती थी। उसके चले जाने के बाद भाभी के दुर्बल गोरे हाथों पर जलने के लम्बे काले निशान और पैरो पर नीले दाग रह जाते थे, पर उनके सम्बन्ध मे कुछ पूछते ही वह गुडिया की किसी समस्या मे मेरा मन अटका देती थी।

उन्ही दिनों स्कूल मे कशीदा का पढना सीखकर मैंने अपनी धानी रग की साडी मे बडे-बडे नीले फूल काढे। भाभी को रगीन कपडे बहुत भाते थे इसी से उसे देखकर वह ऐसी विस्मय-विमुग्ध रह गई मानो कोई सुन्दर चित्र देख रही हो।

मैने क्यों मा से हठ करके वैसा ही कपड़ा मँगवाया और क्यों किसी को बिना बताये हुए छिपा-छिपाकर उस ओढनी पर नीले फूल काढना आरम्भ किया, यह आज भी समझ में नहीं आता।

वह बेचारी बार-बार बुलवा भेजती, नये-नये गुड़ियों के कपड़े दिखाती, नये-नये घरौंदे बनाती, पर फिर भी मुझे अधिक समय तक ठहराने में असमर्थ होकर बडी निराश और करुणमुद्रा से द्वार तक पहुँचा जाती।

उस दिन की बात तो मेरी स्मृति मे गर्म लोहे से लिखी जान पड़ती है, जब उस ओढनी को चुपचाप, छिपाकर मैं भाभी को आश्चर्य में डालने गई। शायद सावन की तीज थी क्योंकि स्कूल के सीधे सादे बिना चमक-दमकवाले कपड़ों के स्थान में मुझे गोटा लगी हुई लहरिये की साडी पहनने को मिली थी और सवेरे पढने बैठने की बात न कहकर मा ने हाथों में मेंहदी भी लगा दी थी।

वह दालान में दरवाजे की ओर पीठ किये बैठी कुछ बीन रही थी, इसी से जब दबे पांव जाकर मैंने उस ओढनी को खोलकर उसके सिर पर डाल दिया तो वह हडबडाकर उठ बैठी। रंगों पर उसके प्राण जाते ही थे, उस पर मैंने गुडियों और खिलौनों से दूर अकेले बैठ-बैठ कर अपने नन्हे हाथों से उसके लिए उतनी लम्बी-चौडी ओढनी काढी थी। आश्चर्य नहीं कि वह क्षण-भर के लिए अपनी उस स्थिति को भूल गई, जिसमें ऐसे रंगीन वस्त्र वर्जित थे और नये खिलौने से प्रसन्न बालिका के समान, एक बेसुधपन में उसे ओढ, मेरी ठुड्डी पकड़ कर खिलखिला पड़ी।

—और जब किसी का विस्मय-विजड़ित 'बींदनी' (बहू) सुन कर उसकी सुधि लौटी तब हतबुद्धि से ससुर मानो गिरने से बचने के लिए

चौखट का सहारा ले रहे थे और क्रोध से जलते अगारे-जैसी आखों वाली खुली तलवार सी कठोर ननद देहली से आगे पैर बढा चुकी थी। अवश्य ही तीज रही होगी क्योंकि वृद्ध स्वय पुत्री को लेने गए थे।

इसके उपरान्त जो हुआ वह तो स्मृति के लिए भी अधिक करुण है। क्रूरता का वैसा प्रदर्शन मैंने फिर कभी नहीं देखा। बचाने का कोई उपाय न देख कर ही कदाचित् मैंने जोर-जोर से रोना आरम्भ किया, परन्तु बच तो वह तब सकी जब मन से ही नहीं शरीर से भी बेसुध हो गई।

वृद्ध मुझे कैसे घर पहुँचा गये, घबराहट से मैं कितने दिन ज्वर मे पड़ी रही, यह सब तो गहरे कुहरे में छिप गया है। परन्तु बहुत दिनों के बाद जब मैंने फिर उसे देखा तब उन बचपन भरी आखों में विषाद का गाढा रग चढ चुका था और वे ओठ जिन पर किसी दिन हँसी छुपी-सी जान पड़ती थी, ऐसे कांपते थे मानो भीतर का क्रन्दन रोकने के प्रयास से थक गये हों। उस एक घटना से बालिका प्रौढ हो गई थी और युवती वृद्धा।

फिर तो हम लोग इन्दौर से चले ही आये—और एक-एक कर के अनेक वर्ष बीत जाने पर ही मैं इस योग्य हो सकी कि उसकी कुछ खोज-खबर ले सकू। पता लगा कि छोटी दूकान के स्थान में एक विशाल अट्टालिका वर्षों पहले खड़ी हो चुकी है। पता चला कि वधू की रक्षा का भार ससार को सौंपकर वृद्ध कभी के विदा हो चुके हैं परन्तु कठोर ससार ने उसकी कैसी रक्षा की, यह आज तक अज्ञात है। इतने बडे मानव-समुद्र में उस छोटे बुद्बुद् की क्या स्थिति है, यह मैं जानती हूँ, परन्तु तब भी कभी-कभी मन चाहता है कि बचपन में जिसने अपने जीवन के सूनेपन को भूल कर, मेरी गुड़ियों की गृहस्थी बसाई थी, खिलौनों का ससार सजाया था, उसे एक बार पा सकती !

आज भी जब कोई मेरी रगीन कपड़ों के प्रति विरक्ति के सम्बन्ध में

कौतुक-भरा प्रश्न कर वैठता है तो वह अतीत फिर वर्तमान होने लगता है। कोई किस प्रकार समझे कि रगीन कपडो मे जो मुख धीरे धीरे स्पष्ट होने लगता है वह कितना करुण और कितना मुर्झाया हुआ है। कभी कभी तो वह मुख मेरे सामने आने वाले सभी करुण क्लान्त मुखों में प्रतिविम्बित होकर मुझे उनके साथ एक अटूट वन्धन में वाध देता है।

प्राय सोचती हूँ—जब वृद्ध ने कभी न खोलने के लिए आखे मूद ली होंगी तव वह, जिसे उन्होंने ससार की ओर देखने का अधिकार ही नहीं दिया था, कहा गई होगी।

और तव—तव न जाने किस अनिष्ट सम्भावना से, न जाने किस अज्ञात प्रश्न के उत्तर में मेरे मन की सारी ममता आर्त्त-क्रन्दन कर उठती है नहीं . नहीं .. ।

११ अक्तूबर, १९३३

तीन

सभीत-सी आखोंवाली उस दुर्बल, छोटी और अपने आपही सिमटी सी बालिका पर दृष्टि डाल कर मैंने सामने बैठे सज्जन को, उनका भरा हुआ प्रवेशपत्र लौटाते हुए कहा—'आप ने आयु ठीक नही भरी है। ठीक कर दीजिये नहीं तो पीछे कठिनाई पडेगी'। 'नही, यह तो गत आषाढ मे चौदह की हो चुकी' सुनकर मैंने कुछ विस्मित भाव से अपनी उस भावी विद्यार्थिनी को अच्छी तरह देखा जो नौ वर्षीय बालिका की सरल चचलता से शून्य थी और चौदह वर्षीय किशोरी के सलज्ज उत्साह से अपरिचित।

उसकी माता के सम्बन्ध मे मेरी जिज्ञासा स्वगत न रहकर स्पष्ट प्रश्न ही बन गयी होगी, क्योंकि दूसरी ओर से कुछ कुठित उत्तर मिला—'मेरी दूसरी पत्नी है और आप तो जानती ही होंगी ...' और उनके वाक्य को अधसुना ही छोडकर मेरा मन स्मृतियों की चित्रशाला मे दो युगों से अधिक समय की धूल के नीचे दबे बिन्दा या विन्ध्येश्वरी के धधले चित्र पर उँगली रख कर कहने लगा—ज्ञात है, अवश्य ज्ञात है।

बिन्दा मेरी उस समय की बाल्यसखी थी जब मैंने जीवन और मृत्यु का अमिट अन्तर जान नहीं पाया था। अपने नाना और दादी के स्वर्ग-गमन की चर्चा सुन कर मै बहुत गम्भीर मुख और आश्वस्त भाव से घर भर को सूचना दे चुकी थी कि जब मेरा सिर कपडे रखने की आल्मारी को छूने लगेगा तब मैं निश्चय ही एक बार उनको देखने जाऊगी। न मेरे इस पुण्य सकल्प का विरोध करने की किसी को इच्छा हुई और न

मैंने एक बार मर कर कभी न लौट सकने का नियम जाना। ऐसी दशा में, छोटे-छोटे असमर्थ बच्चो को छोड कर मर जानेवाली मा की कल्पना मेरी बुद्धि में कहा ठहरती। मेरा ससार का अनुभव भी बहुत सक्षिप्त-सा था। अज्ञानावस्था से मेरा साथ देनेवाली सफेद कुत्ती, सीढियों के नीचे वाली अँधेरी कोठरी में आख मूदे पडे रहने वाले बच्चो की इतनी सतर्क पहरेदार हो उठती थी कि उसका गुर्राना मेरी सारी ममताभरी मैत्री पर पानी फेर देता था। भूरी पूसी भी अपने चूहे जैसे निःसहाय बच्चों को तीखे पैने दातों में ऐसी कोमलता से दबाकर कभी लाती, कभी ले जाती थी कि उनके कहीं एक दात भी न चुभ पाता था। ऊपर की छत के कोने पर कबूतरो का और बडी तस्वीर के पीछे गौरय्या का जो घोंसला था, उसमें खुली हुई छोटी-छोटी चोंचों और उनमें सावधानी से भरे जाते दानों और कीड-मकोडों को भी मैं अनेक बार देख चुकी थी। बछिया को हटाते ही रँभा रँभा कर घर भर को यह दुःखद समाचार सुनानेवाली अपनी श्यामा गाय की व्याकुलता भी मुझ से छिपी न थी। एक बच्चे को कन्धे से चिपकाये और एक की उँगली पकडे हुए जो भिखारिन द्वार द्वार फिरती थी वह भी तो बच्चों के लिए ही कुछ मागती रहती थी। अतः मैंने निश्चित रूप से समझ लिया था कि संसार का सारा कारबार बच्चों को खिलाने, पिलाने, सुलाने आदि के लिए ही हो रहा है और इस महत्त्वपूर्ण कर्तव्य में भूल न होने देने का काम मा नामधारी जीवों को सौंपा गया है।

और बिन्दा के भी तो मा थी जिन्हे हम पडिताइन चाची और बिन्दा नयी अम्मा कहती थी। वे अपनी गोरी, मोटी देह को रंगीन साडी में सजे कसे, चारपाई पर बैठ कर, फूले गाल और चिपटी-सी नाक के दोनो ओर नीले काच के बटन-सी चमकती हुई आँखों से युक्त मोहन को तेल मलती

रहती थीं। उनकी विशेष कारीगरी से संवारी पाटियों के बीच में लाल स्याही की मोटी लकीर-सा सिन्दूर, उनीदी-सी आंखों में काले डोरे के समान लगनेवाला काजल, चमकीले कर्णफूल, गले की माला, नगदार रंगबिरंगी चूड़ियां और घुंघरूदार बिछुए मुझे बहुत भाते थे क्योंकि यह सब अलंकार उन्हें मेरी गुड़िया की समानता दे देते थे।

यह सब तो ठीक था पर उसका व्यवहार विचित्र-सा जान पड़ता था। सर्दी के दिनों में जब हमें धूप निकलने पर जगाया जाता था, गर्म पानी से हाथ-मुंह धुलाकर मोजे, जूते और ऊनी कपड़ों से सजाया जाता था और मना-मनाकर गुनगुना दूध पिलाया जाता था तब पड़ोस के घर में पंडिताइन चाची का स्वर उच्च-से-उच्चतर होता रहता था। यदि उस गर्जन-तर्जन का कोई अर्थ समझ में न आता तो मैं उसे श्यामा के रँभाने के समान स्नेह का प्रदर्शन भी समझ सकती थी, परन्तु उसकी शब्दावली परिचित होने के कारण ही कुछ उलझन उत्पन्न करने वाली थी। 'उठती है या आऊँ', 'बैल के-से दीदे क्या निकाल रही है', 'मोहन का दूध कब गर्म होगा', 'अभागी मरती भी नहीं' आदि वाक्यों में जो कठोरता की धारा बहती रहती थी उसे मेरा अबोध मन भी जान ही लेता था।

कभी-कभी जब मैं ऊपर की छत पर जाकर उस घर की कथा समझने का प्रयास करती तब मुझे मैली धोती लपेटे हुए बिन्दा ही आंगन से चौके तक फिरकनी-सी नाचती दिखाई देती। उसका कभी झाड़ू देना, कभी आग जलाना, कभी आंगन के नल से कलसी में पानी लाना, कभी नयी अम्मा को दूध का कटोरा देने जाना, मुझे बाजीगर के तमाशे जैसा लगता था क्योंकि मेरे लिए तो वे सब कार्य असम्भव-से थे। पर जब उस विस्मित कर देने वाले कौतुक की उपेक्षा कर पंडिताइन चाची का कठोर स्वर गूंजने लगता, जिसमें कभी-कभी

पडित जी की घुडकी का पुट भी मिला रहता था, तब न जाने किस दु.ख की छाया मुझे घेरने लगती थी। जिसकी सुखशीलता का उदाहरण देकर मेरे नटखटपन को रोका जाता था वही बिन्दा घर में चुपके चुपके कौन-सा नटखटपन करती रहती है इसे बहुत प्रयत्न कर के भी मैं न समझ पाती थी। मैं एक भी काम नहीं करती थी और रात दिन ऊधम मचाती रहती थी, पर मुझे तो मा ने कभी न मर जाने की आज्ञा दी और न आखें निकाल लेने का भय दिखाया। एक बार मैंने पूछा भी—'क्या पडिताइन चाची तुम्हारी तरह नहीं हैं?' मा ने मेरी बात का अर्थ कितना समझा यह तो पता नहीं, उनके संक्षिप्त 'हैं' से न बिन्दा की समस्या का समाधान हो सका और न मेरी उलझन सुलझ पायी।

बिन्दा मुझ से कुछ बडी ही रही होगी, परन्तु उसका नाटापन देख कर ऐसा लगता था मानो किसी ने ऊपर से दबाकर उसे कुछ छोटा कर दिया हो। दो पैसे में आने वाली खजडी के ऊपर मढी हुई झिल्ली के समान पतले चर्म से मढे और भीतर की हरी हरी नसों की झलक देने-वाले उसके दुबले हाथ-पैर न जाने किस अज्ञात भय से अवसन्न रहते थे। कहीं से कुछ आहट होते ही उसका विचित्र रूप से चौंक पडना और पडिताइन चाची का स्वर कान में पड़ते ही उसके सारे शरीर का थरथरा उठना, मेरे विस्मय को बढा ही नहीं देता था, प्रत्युत् उसे भय में बदल देता था। और बिन्दा की आखें तो मुझे पिजडे में बन्द चिड़िया की याद दिलाती थीं।

एक बार जब दो तीन कर के तारे गिनते गिनते उसने एक चमकीले तारे की ओर उॅगली उठा कर कहा—'वह रही मेरी अम्मा' तब तो मेरे आश्चर्य का ठिकाना ही न रहा। क्या सब की एक अम्मा तारों में होती

है और एक घर मे ? पूछने पर बिन्दा ने अपने ज्ञान-कोष मे से कुछ कण मुझे दिये और तब मैंने समझा कि जिस अम्मा को ईश्वर बुला लेता है, वह तारा बन कर ऊपर से बच्चों को देखती रहती है और जो बहुत सज-धज से घर मे आती है, वह बिन्दा की नयी अम्मा जैसी होती है। मेरी बुद्धि सहज ही पराजय स्वीकार करना नही जानती, इसी से मैंने सोचकर कहा, 'तुम नयी अम्मा को पुरानी अम्मा क्यों नहीं कहतीं, फिर न वे नयी रहेगी न डाटेगी।'

बिन्दा को मेरा उपाय कुछ जॅचा नहीं, क्योंकि वह तो अपनी पुरानी अम्मा को खुली पालकी मे लेट कर जाते और नयी को बन्द पालकी मे बैठ कर आते देख चुकी थी, अतः किसी को भी पदच्युत करना उसके लिए कठिन था।

पर उसकी कथा से मेरा मन तो सचमुच आकुल हो उठा, अत' उसी रात को मैंने मा से बहुत अनुनयपूर्वक कहा, 'तुम कभी तारा न बनना, चाहे भगवान कितना ही चमकीला तारा बनावें।' मा बेचारी मेरी विचित्र मुद्रा पर विस्मित होकर कुछ बोल भी न पायी थीं कि मैंने अकुंठित भाव से अपना आशय प्रकट कर दिया 'नहीं तो पडिताइन चाची जैसी नयी अम्मा पालकी में बैठ कर आ जायगी और फिर मेरा दूध, बिस्कुट, जलेबी' सब बन्द हो जायगा—और मुझे बिन्दा बनना पडेगा।' मा का उत्तर तो मुझे स्मरण नहीं, पर इतना याद है कि उस रात उनकी धोती का छोर मुट्ठी में दबा कर ही मैं सो पायी थी।

बिन्दा के अपराध तो मेरे लिए अज्ञात थे पर पडिताइन चाची के न्यायालय से मिलनेवाले दण्ड के सब रूपों से मैं परिचित हो चुकी थी। गर्मी के दोपहर में मैंने बिन्दा को आगन की जलती धरती पर बार बार

पैर उठाते और रखते हुए घटों खडा देखा था, चौके के खम्भे से दिन-दिन भर बँधा पाया था और भूख से मुरझाये मुख के साथ पहरों नई अम्मा और खटोले में सोते मोहन पर पखा झलते देखा था। उसे अपराध का ही नहीं, अपराध के अभाव का भी दण्ड सहना पडता था, इसी से पडित जी की थाली में पडिताइन चाची का ही काला मोटा और घुघराला बाल निकलने पर भी दण्ड बिन्दा को मिला। उसके छोटे-छोटे हाथों से धुल न सकनेवाले, उलझे, तेलहीन बाल भी अपने स्वाभाविक भूरेपन और कोमलता के कारण मुझे बडे अच्छे लगते थे। जब पडिताइन चाची की कैंची ने उन्हे कूडे के ढेर पर बिखरा कर, उनके स्थान को बिल्ली की काली धारियों जैसी रेखाओ से भर दिया तो मुझे रुलाई आने लगी, पर बिन्दा ऐसे बैठी रही मानो सिर और बाल दोनो नयी अम्मा के ही हों।

और एक दिन याद आता है। चूल्हे पर चढाया दूध उफना जा रहा था। बिन्दा के नन्हे-नन्हे हाथों ने दूध की पतीली उतारी अवश्य, पर वह उसकी उङ्गलियो से छूट कर पैरों पर गिर पडी। खौलते दूध से जले पैरों के साथ दरवाजे पर खडी बिन्दा का रोना देख मैं तो हतबुद्धि-सी हो रही। पडिताइन चाची से कह कर वह दवा क्यो नहीं लगवा लेती, यह समझना मेरे लिये कठिन था। उस पर जब बिन्दा मेरा हाथ अपने जोर से धडकते हुए हृदय से लगा कर कहीं छिपा देने की आवश्यकता बताने लगी तब तो मेरे लिये सब कुछ रहस्यमय हो उठा।

उसे मै अपने घर मे खींच लाई अवश्य, पर न ऊपर के खड में मा के पास ले जा सकी और न छिपने का स्थान खोज सकी। इतने में दीवारें लाघ कर आनेवाले, पडिताइन चाची के उग्र स्वर ने, भय

से हमारी दिशाए रूध दीं, इसी से हडवडाहट में हम दोनो उस कोठरी में जा घुसीं जिसमे गाय के लिये घास भरी जाती थी। मुझे तो घास की पत्तिया भी चुभ रही थी, कोठरी का अन्धकार भी कष्ट दे रहा था, पर बिन्दा अपने जले पैरों को घास में छिपाने और दोनों ठडे हाथो से मेरा हाथ दबाये ऐसे बैठी थी मानो घास का चुभता हुआ ढेर रेशमी बिछौना बन गया हो।

मैं तो शायद सो गई थी क्योंकि जब घास निकालने के लिये आया हुआ गोपी इस अभूतपूर्व दृश्य की घोषणा करने के लिये कोलाहल मचाने लगा तब मैंने आखें मलते हुए पूछा—क्या सवेरा हो गया?

माँ ने बिन्दा के पैरों पर तिल का तेल और चूने का पानी लगा कर जब अपने विशेष सन्देशवाहक के साथ उसे घर भिजवा दिया तब उसकी क्या दशा हुई, यह बताना कठिन है, पर इतना तो मैं जानती ही हूँ कि पडिताइन चाची के न्याय-विधान में न क्षमा का स्थान था, न अपील का अधिकार।

फिर कुछ दिनों तक मैंने बिन्दा को घर-आँगन मे काम करते नहीं देखा। उसके घर जाने से माँ ने मुझे रोक दिया था, पर वे प्रायः कुछ अगूर और सेव लेकर वहा हो आती थीं। बहुत खुशामद करने पर रुकिया ने बताया कि उस घर मे महारानी आयी हैं। 'क्या वे मुझ से नहीं मिल सकतीं', पूछने पर वह मुह में कपडा ठूस कर हसी रोकने लगी। जब मेरे मन का कोई समाधान न हो सका तब मैं एक दिन दोपहर को सब की आँख बचा कर बिन्दा के घर पहुँची। नीचे के सुनसान खड मे बिन्दा अकेली एक खाट पर पडी थी। आखें गड्ढे में धुस गई थीं, मुख दानों से भर कर न जाने कैसा हो गया था और मैली-सी चादर के नीचे छिपा शरीर बिछौने से भिन्न ही नहीं जान

पडता था। डाक्टर, दवा की शीशियाँ, सिर पर हाथ फेरती हुई माँ और बिछौने के चारों ओर चक्कर काटते हुए बाबू जी के बिना भी बीमारी का अस्तित्व है, यह मैं नहीं जानती थी, इसी से उस अकेली बिन्दा के पास खडी होकर मैं चकित सी चारों ओर देखती रह गई। बिन्दा ने ही कुछ सकेत और कुछ अस्पष्ट शब्दों में बताया कि नयी अम्मा मोहन के साथ ऊपर के खण्ड में रहती हैं, शायद चेचक के डर से। सवेरे-शाम बरौनी आकर उसका काम कर जाती है।

फिर तो बिन्दा को देखना सम्भव न हो सका, क्योंकि मेरे इस आज्ञा-उल्लघन से माँ बहुत चिन्तित हो उठी थीं।

एक दिन सवेरे ही रुकिया ने उन से न जाने क्या कहा कि वे रामायण बन्द कर बार बार आँखे पोंछती हुई बिन्दा के घर चल दीं। जाते जाते वे मुझे बाहर न निकलने का आदेश देना न भूली थीं, इसी से इधर उधर से झाँक कर देखना आवश्यक हो गया। रुकिया मेरे लिये त्रिकालदर्शी से कम न थी परन्तु वह विशेष अनुनय-विनय के बिना कुछ बताती ही नहीं थी और उससे अनुनय-विनय करना मेरे आत्मसम्मान के विरुद्ध पडता था। अत खिडकी से झाँक कर मैं बिन्दा के दरवाजे पर जमा हुए आदमियों के अतिरिक्त और कुछ न देख सकी और इस प्रकार की भीड से विवाह और बारात का जो सम्बन्ध है उसे मैं जानती थी। तब क्या उस घर मे विवाह हो रहा है और हो रहा है तो किसका, आदि प्रश्न मेरी बुद्धि की परीक्षा लेने लगे। पडित जी का विवाह तो तब होगा जब दूसरी पडिताइन चाची भी मर कर तारा बन जावेंगी और बैठ न सकने वाले मोहन का विवाह सम्भव नहीं, यही सोच विचार कर मैं इस परिणाम पर पहुँची कि बिन्दा का विवाह हो रहा है और उसने मुझे बुलाया तक नहीं। इस

अचिन्त्य अपमान से आहत मेरा मन सब गुडियों को साक्षी बना कर बिन्दा को किसी भी शुभ कार्य में न बुलाने की प्रतिज्ञा करने लगा।

कई दिन बिन्दा के घर झाँक झाँक कर जब मैंने मा से उसके ससुराल से लौटने के सम्बन्ध में प्रश्न किया तब तक पता चला कि वह तो अपनी आकाशवासिनी अम्मा के पास चली गई। उस दिन से मैं प्रायः चमकीले तारे के आसपास फैले छोटे तारों में बिन्दा को ढूंढती रहती, पर इतनी दूर से पहचानना क्या सम्भव था!

तब से कितना समय बीत चुका है, पर बिन्दा और उसकी नयी अम्मा की कहानी शेष नहीं हुई। कभी हो सकेगी या नहीं, इसे कौन बता सकता है!

५ अगस्त, १९३४

चार

सबिया न शबनम का संक्षिप्त है न शबरात का। वह तो हमारे पौराणिक सावित्री का अपभ्रंश है। पर सच कहे तो कहना होगा कि या तो हमारे उदार आर्य्यत्व ने दयार्द्र होकर ही, हरिजनों में भी निकृष्टतम जीव को, इस संज्ञा की छाया में पवित्र होने की अनुमति दे डाली या सबिया के, परम्परा के अनुसार स्वर्गगत परन्तु यथार्थ मे नरकगत माता-पिता चतुर पाकेटमार के समान सब की आख बचा कर इस नामनिधि को उडा लाये और इसे अपना बनाने के लिए इतना काटा-छाटा कि अब इस पर किसी एक का अधिकार प्रमाणित करना कठिन हो गया है।

मानो मेरे नौकर न बदलने के नियम का विरोध करने के लिए जब बूढा जमादार बिना आज्ञा माँगे ही ऐसी महायात्रा पर चल पडा जहा से किसी को पकड मँगाना सम्भव नहीं, तभी एक दिन मास भर के नाम-धारी मासपिण्ड को चीकट से कपडे में लपेट और अपनी नग्नता को मलिनता से ढाकने वाली पाच वर्ष की बच्चिया को उँगली से सहारा दिये, सबिया मेरे सामने आ उपस्थित हुई। उसका मुख चिकनी काली मिट्टी से गढा जान पडता था, परन्तु प्रत्येक रेखा मे साचे की वैसी ही सुडौलता थी जैसी प्राय पेरिस प्लास्टर की मूर्तियों में देखी जाती है। आखों की गढन लम्बी न होकर गोल होने के कारण उनमे मेले मे खोये बच्चे जैसी सभय चकित दृष्टि थी। हाथ पैर में मोटे-मोटे चमकहीन गिलट के कडे उसे कैदी की स्थिति में डाल देते थे। कुछ कम चौडे ललाट पर जुडी भौंहों के ऊपर लगी पीली काच की टिकुली मे जो शृगार था, वह

भटकटैया के फूल से घूरे के शृंगार का स्मरण दिलाता था। कभी लाल पर अब पुराने घडे के रग वाली धोती में लिपटी सबिया ऐसी लगी मानो किसी अपटु शिल्पी की सयत्न गढी मिट्टी की मूर्त्ति हो जिसके सब कच्चे रग धुल गये हैं और जहा-तहा से केवल सुडौल रेखाओं में बँधी मिट्टी झाकने लगी है।

पता चला, उसका पति बिना उसे बताये परदेश चला गया है। वह तब सौरी मे थी—दु:ख से बीमार पड गयी और इस प्रकार जिस बँगले में नौकर थी वहा दूसरी मेहतरानी आ गयी। यहा काम मिल जाय तो बच्चे पल जाय।

तन-मन से काम करने के सम्बन्ध में उसके आश्वासन की उपेक्षा कर मैंने उस छोटी-सी गठरी पर सन्देह-भरी दृष्टि डाल कर प्रश्न किया 'इसे लेकर कैसे काम होगा ?' सबिया ने जब उस मैली, दुबली बालिका की पीठ पर हाथ फेरते हुए बडे विश्वास से सिर हिला-हिलाकर, भाई की देख-रेख के विषय में उसकी असाधारण पटुता की व्याख्या सोदाहरण आरम्भ की, तब न मैं हँस सकी और न मुस्कराहट रोक सकी।

वास्तव मे बचिया की जुगनू जैसी आखों पर फैलती हुई अँधेरी जैसी गम्भीरता देख कर, उस पर हँस उठना निष्ठुर जान पड़ता था और मौन रहना सहानुभूतिहीन।

उसे काम बताकर जब मैं बरामदे से कमरे मे आ गयी तब बूढी भक्तिन के हृदय का कुतूहल, मेरे भय का बाध तोड कर न जाने कितने प्रश्नों मे बह निकला। अथक कथावाचक होने के कारण सब के सम्बन्ध मे सब कुछ जान रखना उसके जीवन का प्रथम सिद्धात है और जान पडता है सब से बडे कथाकार परमात्मा की कृपा से योजनबाहु का गुण

उसकी जीभ में आ बसा है। जब हजारों सुमिरनी जैसी प्रश्नावली के कुछ बिखरे शब्द मेरे कानों में बरबस घुसने लगे तब उनकी अपेक्षा न कर सकने का कारण उत्तरों की करुणा ही रही।

सबिया के पति के सम्बन्ध में किया गया प्रश्न तो मैं स्पष्ट न सुन सकी परन्तु उसका 'ना मइया, करा धरा न होय, आपन बीहा बरा आदमी रहा' में दिया उत्तर बता रहा था कि बोलने वाली का गला भर आया है। 'ऊ मेहरारू बडी गजबिन रही' के उत्तर में सबिया के थके स्वर ने उसकी सफाई में कहा, 'माता आपन आपन भाग'। फिर मैंने सप्रयास लिखने में मन लगाया और कथा का सूत्र वहीं टूट गया। धीरे धीरे पता चला कि सबिया का पति, सत्यवान का किसी प्रकार भी अपभ्रंश नहीं है, इतना ही नहीं, वह अपने निरर्थक मैकू नाम के समान भी निर्थक नहीं हो सका। एक दिन अपने जाति भाई की नयी वधू को लेकर वह न जाने कहाँ चल दिया और वह भी ऐसे समय, जब सबिया तीन दिन के शिशु को लिये पड़ी थी। तब से न सबिया ने उसकी आशा छोड़ी और न उसका कोई समाचार मिला। बेचारे जाति भाई ने प्रतिशोध लेने के साथ साथ उजडा घर बसा लेने के लिये जो प्रस्ताव सबिया के सामने रखा उसे अस्वीकृत ही होना पड़ा। अन्त में उस बेचारे ने 'दूध का जला मट्ठा भी फूक फूक कर पीता है' के अनुसार एक बूढ़ा विधवा भाभी को अपने घर की लक्ष्मी बना कर निश्चिन्तता की सास ली। ऐसी सबिया को सब झक्की कहने लगे तो आश्चर्य क्या! परन्तु मुझे तो उसमें काम करने की धुन के अतिरिक्त किसी प्रकार की झक का पता न चला। सबेरे ही नीम-तले कँकरीली धरती पर एक फटा मैला कपडा डालकर वह बच्चे को लिटा देती और कुछ निगरानी

करने और कुछ मक्खिया उडाने के लिए बचिया को बैठा आप एक तार तार पिछौरी से कमर कस कर झाड़ू सँभालती। फिर कम्पाउण्ड के एक छोर पर झाड़ू के छरछर सगीत के साथ हवा में उडती-सी बचिया का नृत्य आरम्भ होता और दूसरे छोर पर कभी वीरासन, कभी योगासन में बैठ कर छोटे छोटे हाथों से मक्खी उडाती और कभी एक पैर से, कभी दोनों पैरों से कूद फाद कर कौवों को डराती हुई बचिया का रूपक विस्तार पाता। मा के दुबले शरीर में सूखी लकडी की कठिनता न होकर हरी टहनी का लचीलापन रहता था जो दुर्बलता से अधिक जीवन का परिचय देता है और बालिका के सूखे शरीर मे नये पत्ते की चचलता न होकर पाले से खिल न सकने वाले बँधे किशलय-कोरक का अवश हिलना डुलना था जो विकास का सूचक न होकर जडता का परिचय देता है। मेरी खिडकी के सामने वाला नीम ही बचिया का रगमञ्च था और मेरी कुतिया छात्रावास की पूमी जैसे महत्त्वपूर्ण दर्शकों का तो वहा स्वागत होता ही था, साथ ही परदेशी कौवे अज्ञातनामा चिडिया और नीमवासिनी पडोसिन गिलहरी की आवभगत में भी कमी न थी। परन्तु बचिया की सरल सतर्कता को देखकर यही जान पडता था कि कुतिया से लेकर चिडयों तक और गिलहरी से लेकर मक्खियों तक सब उसके दुलारे भइया को उठा ले भागने के लिए आकुल हैं। कदाचित् उन छद्मवेशी लुटेरों को समझाने के लिए ही वह बिल्ली की म्याऊँ म्याऊँ से लेकर चिन्यों की चू चू तक न जाने कितनी भिन्न भिन्न वाणियों में बोलती और सबके अन्त में सन्धि के शखनाद के समान एक पैसे में खरीदी हुई पिपहरी बजाती।

उसकी सारी कर्तव्यपरायणता के दुर्ग को भेद कर जब भूख भीतर पहुँच जाती तब वह उसी मैले कपडे के एक छोर में बँधा रोटी

का टुकडा खोल कर उस छिपे शत्रु से समझौता आरम्भ करती। परन्तु यह तो मानना ही होगा कि उतने दर्शकों की उपस्थिति में यह कार्य्य दुष्कर हो उठता था। एक वार ज्यों ही उसने मुर्गे के स्वर में कुछ उपालम्भ देने का उपक्रम किया त्यों ही विद्रोही कौवा उसका भूख से लडने का एक मात्र अस्त्र छीन भागा। अन्त मे मैंने बिस्कुट और एक वेसन का लड्डू भिजवा कर मानो काठ की कटार के स्थान में मशीनगन सौंपने का पुण्य कार्य्य किया। तब से बचिया की याचना 'कूकडू कूँ' होकर ही मेरे पास पहुँचने लगी और उत्तर में मैं जो भिजवाती थी उस पर भक्तिन की झुँझलाहट की सान चढी रहती थी।

दस बजे तक सब काम समाप्त कर, बाजीगर के समान अपनी सृष्टि को समेटती हुई सबिया नहाने धोने चली जाती। फिर जब तक वह घिस-घिस कर माजी हुई पीतल की चमकीली थाली लेकर खाना लेने लौटती तब तक छात्रावास में भोजन सम्बन्धी सुदीर्घ कार्य्य-कलाप का उपसहार हो चुकता। थालियों की जूठन जमादार के सिर पर न मढी जाकर स्कूल की गाडियों के बैलों को खिलाई जाय, ऐसी मेरी कठोर और परम्पराविरुद्ध आज्ञा के कारण सबिया को, चौके से मिले दाल भात मे महराजिन, कहारी आदि के व्यग की जो तिक्तता मिलती रही होगी उसका मैं अनुमान कर सकती हूँ। सबिया तो किसी की शिकायत करने मे इतना हिचकिचाती थी मानो ऐसे किसी शब्द से उसके मुह मे दाहभरे छाले पड जायँगे।

साझ सबेरे बच्चो से लदी फँदी सबिया को बडी कठिनाई से थाली ले जाते देख कर मैंने उसे वहीं बच्चों को खिला कर खा लेने की बात सुझाई। उसने इस तरह सकुचा कर उत्तर दिया मानो

किसी बड़े अक्षम्य अपराध की स्वीकारोक्ति हो। कहा, 'बचिया के आधर-वूधर आजी है, मजकिन ! ओह का बिन खियाये पियाये कसत खाब।' फिर कुछ कहना व्यर्थ था, पर दुखी और दुर्बल स्त्री पर दो दो बच्चों के साथ अंधी मा का भार लाद जानेवाले भैकू पर मेरा मन झल्ला उठा। पुरुष भी विचित्र है। वह अपने छोटे से छोटे सुख के लिए स्त्री को बड़ा से बड़ा दुःख दे डालता है और ऐसी निश्चिन्तता से, मानो वह स्त्री को उसका प्राप्य ही दे रहा है। सभी कर्त्तव्यों को वह चीनी से ढकी कुनैन के समान मीठे मीठे रूप में ही चाहता है। जैसे ही कटुता का आभास मिला कि उसकी पहली प्रवृत्ति सब कुछ जहाँ का तहा पटक कर भाग खड़े होने की होती है।

सबिया की अकारण शालीनता पर मेरी सकारण ममता उत्पन्न हो गयी थी कि उसका समय एक प्रकार से अच्छा ही कटने लगा।

तब अचानक एक दिन दरवाजे की ओट में दुबकी खड़ी सबिया के लिए मानो दुभाषिये का काम करती हुई भक्तिन ने बताया कि उसे एक अच्छी-सी धोती चाहिये। मैंने अरगनी पर सूखती हुई खद्दर की साड़ी दे देने की अनुमति दे दी परन्तु भक्तिन ने मुह बना कर कहा, 'और अच्छी।' तब फिर उठकर मैंने कपड़ों में इस अनिश्चित विशेषण के अन्तर्गत रखने योग्य साड़ियों की छान-बीन आरम्भ की।

जिन दिनों मैंने रेशम पहनना नहीं छोड़ा था तभी की एक धुल धुल कर फीकी पड़ी हुई नीली-सी रेशमी साड़ी हाथ लगी और उसी को भक्तिन के आगे फेंक मैंने अपने काम में मन लगाया। जितना कोई स्वय बता दे उससे अधिक किसी के सम्बन्ध में जानने की मेरी कभी इच्छा नहीं होती, इसी से साड़ी की इस असमय याचना के

सम्बन्ध में मैंने कुछ न पूछा। पर मेरे स्वभाव की इस कमी को पूरा किये विना भक्तिन जी ही नहीं सकती। वह दूसरों के लिये ही नहीं, मेरे लिये भी विस्मय की वस्तु है। मैं चाहे जितना आवश्यक काम करती रहूँ, परन्तु वह मेरे श्रवण की सीमा के भीतर ही कहीं बैठ कर ससार भर की कथा अपने आप से कहने के वहाने मुझे सुनाती रहती है। अनेक वार मैंने उसे वहुत डाँटा भी है, पर उसके स्वभाव में कोई अन्तर नहीं आया। जब से वह अठारह आम और पाँच महुये के पेडों वाला वगीचा, मिट्टी का कच्चा घर और पच्चीस बीघा खेत छोड कर तथा तीन तीन बेटी-दामादों और अनेक नाती-नातिनो से ममता तोड कर मेरे पास आई है तब से मुझे छोड कर गाँव जाने की सम्भावना उसके मन में घुस ही नहीं पाई। मैं वेतन न दू तो भी वह जाने को राजी नहीं, खाना न दू तो भी वह गाँव से सत्तू-गुड लाकर खाने को प्रस्तुत है, पर मुझे छोड़ कर वह केवल स्वर्ग जायगी और वह भी अपनी इच्छा से नहीं। ऐसे व्यक्ति को सुधारना क्या कभी सम्भव है? इसी से वह निरन्तर सजय की भूमिका निबाहती रहती है। अन्तर केवल इतना ही है कि महाभारत का संजय अन्धे धृतराष्ट्र के पूछने पर युद्ध का समाचार दे कर उन्हे आँखों का सुख देता था और इसकी अनपूछी ससार-कथा के लिये मुझे प्राय· वहरा वनने का दु.ख भोगना पडता है।

हाँ, तो भक्तिन से पता चला कि मैकू लौटा तो गेंदा के साथ पर उसे स्टेशन के किसी जमादार के घर अतिथि बना आया। वेचारी सबिया सुख से पागल हो गई और उसी दिन सत्यनारायण की कथा का प्रवन्ध करने दौडी। जब सव ठीक हो चुका तव मैकू मुँह लटका कर बैठ रहा और वहुत पूछने पर गेंदा का समाचार दे कर उसे बुला लाने

के लिये सबिया की खुशामद करने लगा। इतना ही नहीं, सबिया की रेशमी साडी देख कर उसने बहुत दीनता से कहा, 'यह तेरे काले रङ्ग पर नहीं फबती सबिया, इसे गेंदा को दे डाल, उस पर खूब खिलेगी।'

बिना एक शब्द कहे सबिया ने नीली साडी उतार कर मैकू के हाथ मे थमा दी और स्वय पुरानी पहन कर अन्धी सास के रोकते रहने पर भी गेंदा को घर लिवा लाने चली गई। पर जान पड़ता है, उसका मन टूट गया क्योंकि वह कभी नीम से सिर टिका कर रो लेती है और कभी झाड़ू देते देते रुक कर आँखें पोंछने लगती है। बेचारी कब से राह देखती थी, नाम रटती थी। अब आया तो गेन्दा को लेकर, उस पर न कभी सबिया का सुख-दुख पूछा और न बच्चों की ओर देखा, केवल गेन्दा की चुगली पर विश्वास कर लडता रहता है। सबिया का भार और भी बढ़ गया है, क्योंकि मैकू को अब तक कोई काम ही नहीं मिला।

फिर एक दिन सबिया गेहुँवें रङ्ग और गोल मुख वाली धृष्ट और चचल गेन्दा को वही नीली साडी पहना कर लाई, कहा, 'छुटकी पा लागत है मलकिन!' खूब—और अशीर्वाद क्या दूँ! सुखी रह कहने का अर्थ होगा कि सबिया को ऐसा ही दुःख देती रह। अत. मैंने कहा, 'ईश्वर ऐसी सुबुद्धि दे कि तुम मेल से रह सको।'

इसके चार पाच दिन बाद सबिया फिर आ उपस्थित हुई। उसे पाँच महीने का वेतन अर्थात् दश प्रति मास के हिसाब से पचास रुपया पेशगी चाहिये। मैंने आश्चर्य से कारण पूछा। पता चला गेन्दा का पहला पति और जाति-भाई दिक कर रहे हैं। पचों को रोटी दी जायगी तभी तो वे बेचारे इस महाभारत को नित्य सहने की शक्ति प्राप्त कर

सकेंगे । पूर्व पति को उसके नितान्त शिष्टाचरण का पुरस्कार न देने से एक आत्म-त्याग का सिद्धान्त उपेक्षित रह जायगा। ऐसे महत्वपूर्ण कार्य के लिये भी सबिया के बच्चों को भूखा मारने की मेरी इच्छा न हुई, पर कुछ रुपये देने ही पडे। जब मालूम हुआ कि शेष का प्रबन्ध करने के लिये सबिया ने अपनी मृत माता की अन्तिम निशानी रुपयों वाली हमेल बेच डाली तब मुझे पश्चात्ताप हुआ। मुझे जानना ही चाहिये था कि वह स्त्री कोई कर्तव्य स्वीकार करने के उपरान्त आना-कानी नहीं जानती।

गेंदा का उस घर में रहना सर्वसम्मत हो जाने पर भी सबिया का कष्ट घटा नहीं क्योंकि हर सास में लड़ती रहती थी। फिर भी जब मैं दोनों समय सबिया को एक बडे लोटे में दाल और थाली में रोटी चावल ले जाते देखती तो मेरा मन विस्मय से भर जाता था। इतने अङ्गारों से भरे जाने पर भी इसके वात्सल्य का अचल दूसरों को छाया देने में समर्थ है। यह जैसे अपने नादान बच्चों के उत्पात की चिन्ता नहीं करती उसी प्रकार पति की हृदयहीन कृतघ्नता, सपत्नी के अनुचित व्यङ्ग और सास की अकारण भर्त्सना पर ध्यान नहीं देती। उसके निकट मानो सब बच्चे हैं इसी से उनका कर्तव्य से जी चुराना उसे कर्तव्य-विमुख नहीं बनाता। मैकू की अयोग्यता की विस्तृत आलोचना-प्रत्यालोचना के उत्तर में उसका सरल और संक्षिप्त प्रश्न यही रहता था कि यदि वह पागल हो जाता या किसी भयानक रोग से पीडित होता तो सब उसे क्या करने की सलाह देते? उत्तर चाहे जितना तर्कहीन हो परन्तु इससे सबिया के हृदय की व्याख्या हो जाती है। वह उन महिलाओं में नहीं है जो पति के हल्केपन को, उसके बँगले, कार, वैभव आदि के पासग रख कर भारी, कर सकती हैं। उसकी गणना न

उनमें हो सकती है जिनके यातना-मन्दिर के द्वार स्वयं धर्म कठोर और सजग पहरेदार है, और उनमें, जिनके उद्भ्रान्त मस्तकों पर समाज की नङ्गी तलवार लटकती रहती है। वह तो सब प्रकार से निकृष्टतम प्राणी कही जायगी। फिर इस पारस की उपस्थिति, जिसके स्पर्श से कैसे भी लोहे का आवरण सोना हो सकता है, किस प्रकार समझाई जावे!

इतने वर्षों में मैंने एक दिन ही सबिया को हताश देखा। मैकू और गेंदा किसी गाव में मेला देखने जाकर लौटे नहीं थे। तभी पास के बँगले में चोरी हो गई। ऐसी स्थिति में दूसरों के अपहृत धन से साहूकार बने हुए बडे आदमी अपने नौकर चाकर ही नहीं, आसपास के दरिद्रों को भी कैसे कैसे पशुओं के हाथ सौंप देते हैं यह कौन नहीं जानता! उनको चाहे गये धन में से एक कौडी वापिस न मिले पर अपने विक्षिप्त क्रोध में वे इन दरिद्रों के जीवन की बची-खुची लज्जा को भी तार तार कर के फेंके बिना नहीं रहते। अपने पकड़े जाने की सम्भावना से मृतप्राय सबिया जब मेरे सामने 'अब हमार पत न बची मलकिन' कह कर चुपचाप आसू बरसाने लगी तब उसकी व्यथा ने मेरे हृदय को एक विचित्र रूप से स्पर्श किया। समाज ने स्त्री की मर्यादा का जो मूल्य निश्चित कर दिया है केवल वही उसकी गुरुता का मापदण्ड नहीं। स्त्री की आत्मा में उनकी मर्यादा की जो सीमा अंकित रहती है वह समाज के मूल्य से बहुत अधिक गुरु और निश्चित है, इसी से ससार भर का समर्थन पाकर जीवन का सौदा करने वाली नारी के हृदय में भी सतीत्व जीवित रह सकता है और समाज भर के निषेध से घिर कर धर्म्म का व्यवसाय करनेवाली सती की सासें भी तिल तिल कर के असती के निर्माण में लगी रह सकती हैं।

अन्त में सबिया पर आयी विपत्ति किसी प्रकार टल गयी। इस सम्बन्ध का 'कैसे' उसकी कथा से सम्बन्ध नहीं रखता।

इसी सलज्ज और कर्तव्यनिष्ठ सबिया को लक्ष्य कर के जब एक परिचित वकीलपत्नी ने कहा, 'आप चोरों की औरतों को क्यों नौकर रख लेती हैं?' तब मेरा शीतल क्रोध उस जल के समान हो उठा जिसकी तरलता के साथ, मिट्टी ही नहीं पत्थर तक काट देने वाली धार भी रहती है। मुह से अचानक निकल गया, 'यदि दूसरे के धन को किसी न किसी प्रकार अपना बना लेने का नाम चोरी है तो मैं जानना चाहती हूँ कि हम में से कौन सम्पन्न महिला चोरपत्नी नहीं कही जा सकती!' प्रश्न करने वाली के मुख पर कालिमा सी फैलते देख मुझे कम क्षोभ नहीं हुआ, पर तीर छूट ही नहीं, लक्ष्य पर चुभ भी चुका था।

सच तो यह है कि मैं सबिया को उस पौराणिक नारीत्व के निकट पाती हूँ जिसने जीवन की सीमा-रेखा किसी अज्ञात लोक तक फैला दी थी। उसे यदि जीवन के लिए मृत्यु से लड़ना पड़ा तो यह न मरने के लिए जीवन से संघर्ष करती है।

३ मार्च, १९३५

पाँच

कुलमणि मल्लीताल के बाजार से तब तक लौट नहीं पाया था; पर झील के किनारे पड़ी हुई उस शिला पर बैठे-बैठे मेरा मन ऊबने लगा और पत्तियों से झालरदार शाखाओं की पानी में झूलती हुई छाया के साथ प्राणायाम करते-करते मेरी दृष्टि थक चली। सहसा 'अरे यह तो महादेवी हैं' सुनकर जब मैंने पार्श्ववर्ती मार्ग की ओर मुह फेरा तो सैंडल की दो पतली ऊँची एडियों पर अपने कुछ स्थूल शरीर का सन्तुलन-सा करती हुई मेरी एक पुरानी साथिन, विचित्र व्यायाम की मुद्रा में खडी दिखाई पड़ीं।

पर्वतीय भूमि मेरी धात्री से मां बन गई है। पैदल ही कई सौ मीलों की यात्रा कर मैंने उसकी प्रशान्त सुषमा और प्रसुप्त जीवन को अनेक रूपों मे देखा है परन्तु उस निस्तब्ध सौन्दर्य और नगर के कोलाहल में मैं अब तक कोई समझौता न करा सकी। अपनी धूलभरी धरती का अंक छोड़ कर मुझे उन्हीं तुषारधौत चरणों में विश्राम मिलता है जिन्होंने साधना से धूल के विशाल दुर्ग बनाकर अपनी करुणा को हमारे लिए सुरक्षित रखा है।

यहां के बवडर की गठरी बाध ले जाकर उसे वहां खोल देना मुझे कभी नहीं भाया इसी से नैनीताल, मसूरी आदि मेरे निकट उस अपटु नट जैसे रहे हैं जो अपना व्यक्तित्व भी खो देते हैं और दूसरे की भूमिका भी नहीं निभा पाते।

—मेरे ज्वर से चिन्तित होकर डाक्टरों ने जब कुछ महीने पहाड़ पर रहने की सम्मति दी तब मैंने बहुत हठ करके नैनीताल के कोलाहल से तीन मील दूर ताकुला में रहने की अनुमति प्राप्त कर ली। पर सप्ताह में एक बार डाक्टर से परामर्श लेने जाना ही पड़ता था और नौकर जब तक आवश्यक वस्तुएँ खरीदता तब तक झील के बाईं ओर वाले कुछ सुन-सान किनारे पर ठहर कर उसकी प्रतीक्षा करनी ही पडती थी।

पर उस दिन अपनी बाल्यसखी को पा कर मुझे सचमुच आनन्द हुआ। वह अपने दो छोटे बच्चों के साथ ऊपर जिस बगले में ठहरी थीं वहा तक न जाने का कोई बहाना खोजने की इच्छा ही नहीं हुई।

जीवन का बहुत समय पार कर जब दो साथी मिलते हैं तब वे कितने ही प्रकार से बीते क्षणों में एक बार फिर जीने का प्रयास करते हैं, इसे कौन नहीं जानता। हम दोनों ने भी अपने जीवन के चित्राधारों को एक दूसरे के सामने रख अपने अनुभवों को मिलाने में कुछ बिताया ही।

अतीत की फीकी स्मृति में रग भरते भरते सखी ने एक परिचित वृद्ध सज्जन के सम्बन्ध में बताया कि वे अपने तीसरी नवोढ़ा पत्नी को नैनीताल दिखाने लाये हैं। मेरी आखों का विस्मय अपनी गुरुता के कारण ही शब्दों में न उतर सका। वृद्ध जीवन के कम-से-कम ५४ वसन्त और पतझड देख चुके होंगे—दो अर्द्धांगिनियां मानो उनके जीवन की द्रुत गति से पग न मिला सकने के कारण ही उनका सग छोड गई हैं। उनसे मिले उपहार-स्वरूप दो पुत्रों में से एक कलकत्ते में कोई व्यवसाय करता है और दूसरा ससुराल की धरोहर बन गया है। दो मकान और कुछ धन है, इसी से वानप्रस्थ आश्रम को भी कुछ

सरस बनाये रखने के लिए वृद्ध महोदय को एक भगिनी ढूंढने की आवश्यकता जान पड़ी।

मेरी नीरव जिज्ञासा से प्रभावित होकर सखी कुछ स्निग्ध कण्ठ से बोली—"तुम न डरो इस बार उन्होंने एक पैंतीस वर्ष की बाल-विधवा का उद्धार किया है।"

—मेरे 'असम्भव' में जितना अविश्वास था उतना ही व्यंग ओठों में भर कर वे मुस्कराने लगीं। कुछ वाद-विवाद के उपरान्त यह निश्चित हुआ कि वे लौटते समय उससे मेरा परिचय करा देंगी।

मल्लीताल में एक दूकान के ऊपर दो कमरे लेकर वृद्ध सपत्नीक ठहरे थे। जीने का द्वार खटखटाने पर जिस स्त्री ने वृद्ध महोदय की अनुपस्थिति की सूचना देकर बड़े विनीत भाव से हमारी अभ्यर्थना की, वह मुझे बहुत दुर्बल, कृश और रोगिणी जैसी जान पड़ी। एक सोने की नयी जंजीर उसकी, दुबली, सूखी, उभरी हड्डियों से सीमित और झुर्रियोंदार रक्तहीन चर्म से मढ़ी गर्दन का उपहास कर रही थी। कुछ पुरानी गढ़न के इयररिंग झाईंदार सूखे और पिचके कपोलों पर व्यंग से लगते थे। आंखें बड़ी थीं पर उस सूखे मुख पर और रूखी पलकों में ऐसी जान पड़ती थीं मानो ऊपर से रख दी गयी हों और पलक मारते ही निकल पड़ेंगी। नीचे के दो दांत कदाचित् गिरने से टूट गये थे क्योंकि एक पूर्ण अदृश्य था और दूसरा आधा दिखाई दे रहा था।

पैंतीस वर्ष का दीर्घ वैधव्य पार कर, चिता में बैठे हुए वृद्ध वर के लिए पुन स्वयंवरा बनने वाली वह दुर्बल और थकी हुई-सी स्त्री मेरे लिए एक साकार विस्मय बन गयी। टसर की मटमैली साड़ी में

लिपटी उस सकुचित मूर्ति मे न रूप था न स्वास्थ्य, न कोई उमग शेष थी न उल्लास।

फिर क्या लेकर वह नयी गृहस्थी बसाने चली है, यह प्रश्न अनेक रूप-रूपान्तरों के साथ मेरे मन को घेरने लगा।

वह प्रथम भेंट यदि अन्तिम भी हो जाती तो कहने के लिए कुछ न रहता, पर सीढियों से उतरते ही रूमाल में खूबानी बाध कर लौटे हुए वृद्ध सज्जन से भेंट हो गयी। एक-एक सास मे अनेक अनेक निमन्त्रण दे उन्होंने अपनी नवागता पत्नी मे परिचय बढाने पर बाध्य किया और इस प्रकार मैं उस विचित्र सौभाग्यवती के फूटे भाग्य से भी परिचित हो सकी।

वह तीन भाइयों में अकेली बहिन होने के कारण विशेष दुलार में पल कर बडी हुई। विवाह उसके अबोधपन में ही हो गया और वैधव्य भी अनजाने ही आ पडा। न पहली स्थिति ने उसे उल्लास में बहाया था, न दूसरी स्थिति निराशा में डुबा पायी। विवाह के साल ही पुत्र की मृत्यु हो जाने के कारण ससुराल वाले वधू का नाम लेना भी अशुभ मानने लगे और दु खी माता-पिता ने भी नवनीत की पुतली के समान सँभाल कर पाली हुई कन्या को उस ज्वाला मे झोंकना उचित न समझा। दुर्दैव के इस आघात को कुछ सह्य बनाने के लिए माता-पिता ने अपना समस्त स्नेह उँडेल कर उसे किसी अभाव का बोध ही नहीं होने दिया, इसी से अभिशप्त पर शाप से अनजान, किसी परी-देश की राजकन्या के समान वह अपने आप मे ही पूर्ण रहने लगी।

फिर जब माता परलोक सिधारी तब भी पिता के कारण उसकी स्थिति मे कोई परिवर्तन न आने पाया। परन्तु पिता के आख मूदते

ही मानो ससार की सब वस्तुओं का मूल्य ही बदल गया। उस एक-मात्र ढाल के नष्ट होते ही उस पर ऐसे असंख्य-असख्य प्रहारो की वर्षा होने लगी जिनकी उपस्थिति का ज्ञान न होने के कारण ही बचाव के साधन भी उसे ज्ञात न थे। अब तक पति उसके निकट ऐसा ही था जैसा ईश्वर, जो हमारी इन्द्रियों से परे रह कर भी हमारे हृदय की अचल श्रद्धा और अडिग विश्वास का आधार बना रहता है। भावुक उपासक के समान उसने बिना तर्क किये ही एक सुखमय साधना से अपने जीवन को घेर लिया था।

जब पहले पहले भाभियो ने पति की मृत्यु का दोषी उसी को ठहराया और पडोसिनों ने उसके किसी अज्ञात अभाव को लक्ष्य कर व्यग-वर्षा की तब उसका हृदय पीडा की अनुभूति के साथ वैसे ही चौंक पडा जैसे सोता हुआ व्यक्ति अगारे के स्पर्श से जाग जाता है।

फिर तब से उसके लिए नित्य नवीन मानसिक और शारीरिक यातनाओं का आविष्कार होने लगा। घर के नौकर-चाकर कम किये गये, पहले सकेत मे, फिर स्पष्ट रूप से और अन्त मे आज्ञा के स्वर मे उस से सब काम सँभालने मे लिए कहा जाने लगा। अनभ्यास से उत्पन्न भूलों के लिए भाभियों के द्वारा कुछ विशेष पूजा भी मिलने लगी। उस पर, किसी दिन उसका मन हाथों पर लिए रहने वाली भाभियां कहती थीं कि उसके भाई सतयुग के हैं, नहीं तो कौन एक निठल्ले व्यक्ति को बैठे-बैठे खिला सकता है। यह स्वर तो उसके लिए एकदम नया था। वह समझ ही न पाती थी कि जिस घर मे उसका जन्म और पालन हुआ है उसी में यदि रात दिन काम करके अपने ही सहोदरों मे उसे भोजन-वस्त्र मिल जाता है तो उसे कृतज्ञता के समुद्र मे क्यों डूब जाना चाहिए। अकेले

बड़े भाई ही नौकर थे, शेष दोनों उसी जमीन-जायदाद की देख-रेख में लगे रहते थे जो उसके भी पिता की थी।

धीरे धीरे वैसे विषाक्त वातावरण में उसका शरीर शिथिल हो चला और मन टूट गया। ज्वर रहने लगा, बेहोशी के दौरे आने लगे। किसी ने कहा, क्षय का पूर्व लक्षण है, किसी ने बताया मृगी रोग है। रोग तो दोनों सक्रामक थे, अत बेचारी भाभियाँ अपने कुटुम्ब की कल्याण-कामना से आकुल होने लगीं। परामर्श कर के छोटे भाई के द्वारा उसके देवर को पत्र लिखवाया गया, परन्तु वहा से उत्तर आया कि वे लोग उसे पहचानते ही नहीं—जान पड़ता है किसी अनाचार के कारण वे उसे उन निर्दोषों के गले मढना चाहते हैं, यदि वे ऐसा करेंगे तो न्यायालय तो कहीं भाग नहीं गये हैं।

निरुपाय होकर बडी भाभी ने स्नेहस्निग्ध कण्ठ से अपने पति महोदय से कहा—"अब तो विधवा-विवाह होने लगे हैं। बेचारी बिट्टो का भी विवाह कर दिया जाय तो कैसा हो!" जिज्ञासु भाई ने जब बहिन की इच्छा के सम्बन्ध में प्रश्न किया तब भाभी ने ममताभरी वाणी में उनकी नासमझी की टीका करते हुए बताया कि ऐसी इच्छा तो कोई निर्लज्ज लड़की भी नहीं प्रकट करती—बिट्टो तो लज्जा साकार है परन्तु विवाह न होने पर उसका घुट घुट कर मर जाना निश्चित है।

जिस समाज में ६४ वर्ष का व्यक्ति १४ वर्ष की पत्नी चाहता है वहां ३२ वर्ष की बिट्टो के पुनर्विवाह की समस्या सुलझा लेना टेढी खीर थी। उसके भाग्य से ही १५० वर्ष की पूर्णायु वाला कोई पुरुष न मिला और उसके जन्म-जन्मान्तर के अखण्ड पुण्य-फल से हमारे ५४ वर्ष के बाबा ने उसके उद्धार का बीडा उठाया।

जब भाभी ने उसे यह सुखद समाचार सुनाया तब पहले तो यह सत्य उसकी बड़ी बड़ी आँखों की शून्य दृष्टि को भेद कर हृदय तक पहुँच ही नहीं सका और जब अनेक प्रयत्न करने पर पहुँचा तो उसका परिणाम विपरीत ही हुआ। बिट्टो ने बहुत करुण क्रन्दन के साथ विवाह का विरोध किया पर परोपकारियों का मार्ग न समुद्र रोक सकता है और न पर्वत।

किसी ने उसे भाई-भतीजों की कल्याण-कामना की आवश्यकता बतायी, किसी ने रोग की संक्रामकता की ओर उसका ध्यान आकर्षित किया और किसी ने उसके जर्जर शरीर की अनुपयोगिता सिद्ध की। सम्भवतः वृद्ध वर को मृत्यु के निकट जान कर ही किसी ने उनके कल्याण की चिन्ता नहीं की। अन्त में एक शुभ मुहूर्त में जलती हुई पर सूखी आँखों से बिट्टो ने पितृगृह की देहली को अन्तिम प्रणाम कर के धीरे पदों से उस कई बार बसे-उजड़े घर में प्रवेश किया जहाँ उसके आगमन से अपना असहयोग प्रदर्शित करने के लिए एक प्राणी भी स्वागतार्थ उपस्थित न था।

यही उपसंहार-हीन करुण-कथा बिट्टो ने मुझे अनेक भेंटों में खण्ड-खण्ड कर के सुनायी। उसकी व्यथा अपनी गम्भीरता के कारण ही दुर्बोध बन गयी थी। हमारे यहाँ का पुरुष उसे ठीक रूप में किस अंश तक समझ सकेगा, यह कहना कठिन है। पुरुष बेचारे की उग्र तपस्या और अखण्ड साधना स्त्री के द्वारा प्रायः भंग होती रही है, इसी से उसने इस मायाविनी जाति के स्वभाव की व्याख्या करने के लिए पोथे रच डाले हैं।

स्त्री जब किसी साधना को अपना स्वभाव और किसी सत्य को अपनी आत्मा बना लेती है तब पुरुष उसके लिए न महत्त्व का विषय रह जाता

है न भय का कारण, इस-सत्य को सत्य मान लेना पुरुष के लिए कभी सम्भव नहीं हो सका। अपनी पराजय को बलात् जय का नाम देने के लिए ही सम्भवत वह अनेक विषम परिस्थितियों और सकीर्ण सामाजिक धार्मिक बन्धनों मे उसे बाधने का प्रयास करता रहता है। साधारण रूप से वैभव के साधन ही नहीं, मुट्ठी भर अन्न भी स्त्री के सम्पूर्ण जीवन से भारी ठहरता है। फिर भी स्त्री को हारा हुआ तब तक मेरा मन कैसे स्वीकार करे जब तक उसके परिस्थितियों से चूर-चूर हृदय मे भी आलोक की लौ जल रही है।

महीयसी बीट्टो को तो एक दिन बस मे बैठा कर विदा देनी ही पडी पर उसकी कहानी मेरे हृदय के कोने-कोने में बस सी गयी। इसी से कभी कभी उन्हीं सखी महोदया को लिख कर उसके सम्बन्ध मे पूछना ही पड जाता है।

आज प्राय चार वर्ष के बाद उसके सम्बन्ध मे एक असाधारण समाचार मिला है। सखी ने लिखा है कि वृद्ध विषम ज्वर से पीडित होकर अन्तिम घडियाँ गिन रहे हैं। बहुएँ तो नहीं पर दोनो पुत्रों ने आकर मकान, रुपया आदि अपनी धरोहर सँभालने का पुण्य अनुष्ठान आरम्भ कर दिया है। सुपुत्रों को यह तीसरी विमाता फूटी आख नहीं सुहाती, अत अब बेचारी बिट्टो का भविष्य पहिले से अधिक अन्धकारमय है।

मन मे आ रहा है कि मन्दबुद्धि सखा को एक लम्बा चौडा व्याख्यान लिख डालू। मनु महाराज जो कह गये हैं उसे असत्य प्रमाणित कर कुम्भी पाक मे विहार करने की इच्छा न हो तो यह कहना ही पडेगा कि बिट्टो तीसरे विवाह की इच्छा को हृदय के किसी निभृत कोने में छिपाये हुए है। और उसके उद्धार के लिए निरन्तर कटिबद्ध

वृद्ध परोपकारियों की, इस पुण्य भूमि में और विशेष कर इस जाग्रत युग में कमी नहीं हो सकती।

फिर इतने विलाप-कलाप की क्या आवश्यकता है ?

४ जनवरी, १९३५

छः

फागुन के गुलाबी जाडे की वह सुनहली सन्ध्या क्या भुलाई जा सकती है ! सवेरे के पुलकपखी वैतालिक एक लयवती उड़ान में अपने-अपने नीडों की ओर लौट रहे थे। विरल बादलों के अन्तराल से उन पर चलाये हुए सूर्य के सोने के शब्दवेधी वाण उनका उन्मद गति में ही उलझ कर लक्ष्य-भ्रष्ट हो रहे थे।

पश्चिम में रगों का उत्सव देखते-देखते जैसे ही मुह फेरा कि नौकर सामने आ खडा हुआ। पता चला, अपना नाम न बताने वाले एक वृद्ध सज्जन मुझ से मिलने की प्रतीक्षा में बहुत देर से बाहर खडे हैं। उनसे सवेरे आने के लिए कहना अरण्य-रोदन ही हो गया है।

मेरे कविता की पहिली पक्ति ही लिखी गयी थी, अत मन खिसिया-सा आया। मेरे काम से अधिक महत्त्वपूर्ण कौन-सा काम हो सकता है, जिसके लिए असमय में उपस्थित होकर उन्होंने मेरी कविता को प्राणप्रतिष्ठा से पहले ही खण्डित मूर्ति के समान बना दिया ! 'मैं कवि हूँ' में जब मेरे मन का सम्पूर्ण अभिमान पुञ्जीभूत होने लगा तब यदि विवेक का 'पर मनुष्य नहीं' में छिपा व्यग बहुत गहरा न चुभ जाता तो कदाचित् मैं न उठती। कुछ खीझी, कुछ कठोर-सी मैं बिना देखे ही एक नयी और दूसरी पुरानी चप्पल में पैर डाल कर जिस तेजी से बाहर आयी उसी तेजी से उस अवाछित आगन्तुक के सामने निस्तब्ध और निर्वाक हो रही। बचपन में मैंने कभी किसी चित्र-कार का बनाया कण्व ऋषि का चित्र देखा था—वृद्ध में मानो वह सजीव हो गया था। दूध से सफेद बाल और दूधफेनी-सी सफेद दाढी

वाला वह मुख झुर्रियों के कारण समय का अंकगणित हो रहा था। कभी की सतेज आंखें आज ऐसी लग रही थीं मानो किसी ने चमकीले दर्पण पर फूंक मार दी हो। एक क्षण में ही उन्हें धवल शिर से लेकर धूल भरे पैरों तक, कुछ पुरानी काली चप्पलों से लेकर पसीने और मैल की एक बहुत पतली कोर से युक्त खादी की धुली टोपी तक देख कर कहा—आप को पहचानी नहीं। अनुभवों मे मलिन, पर आंसुओं से उजली उनकी दृष्टि पल भर को उठी, फिर कास के फूल जैसी बरौनियों वाली पलकें झुक आयीं—न जाने व्यथा के भार से, न जाने लज्जा से।

एक क्लान्त पर शान्त कण्ठ से उत्तर दिया—'जिसके द्वार पर आया है उसका नाम जानता है, इससे अधिक मांगने वाले का परिचय क्या होगा ? मेरी पोती आप से एक बार मिलने के लिए बहुत विकल है। दो दिन से इसी उधेड़-बुन में पड़ा था। आज साहस कर के आ सका हूँ—कल तक शायद साहस न ठहरता इसी से मिलने के लिए हठ कर रहा था। पर क्या आप इतना कष्ट स्वीकार करके चल सकेंगी ? तांगा खड़ा है।'

मैं आश्चर्य से वृद्ध की ओर देखती रह गयी—मेरे परिचित ही नहीं अपरिचित भी जानते हैं कि सहज ही कहीं आती जाती नहीं। यह शायद बाहर से आये हैं। पूछा—'क्या वह नहीं आ सकती ?' वृद्ध के लज्जित होने का कारण मैं न समझ सकी, उनके ओठ हिले पर कोई स्वर न निकल सका—और वे मुंह फेर कर गीली आंखों को छिपाने की चेष्टा करने लगे। उनका कष्ट देख कर मेरा बीमारी के सम्बन्ध में प्रश्न करना स्वाभाविक ही था। वृद्ध ने नितान्त हताश मुद्रा में स्वीकृतिसूचक मस्तक हिला कर कुछ बिखरे-से शब्दों में यह

स्पष्ट कर दिया कि उनके एक पोती है जो आठ वर्ष की अवस्था में मातृ पितृहीन और ग्यारहवें वर्ष में विधवा हो गयी थी।

अधिक तर्क-वितर्क का अवकाश नहीं था—सोचा, वृद्ध की पोती अवश्य ही मरणासन्न है! बेचारी अभागी बालिका! पर मैं तो कोई डाक्टर या वैद्य नहीं हूँ और मुंडन, कनछेदन आदि में कवि को बुलाने वाले लोग अभी उसे गीतावाचक के समान अन्तिम समय में बुलाना नहीं सीखे हैं। वृद्ध जिस निहोरे के साथ मेरे मुख का प्रत्येक भाव-परिवर्तन देख रहे थे, उसी ने मानो मेरे कण्ठ से बलात् कहला दिया —'चलिए, किसी को साथ ले लूं, क्योंकि लौटते लौटते अँधेरा हो जावेगा।'

नगर की शिराओं के समान फैली और एक दूसरे से उलझी हुई गलियों से, जिनमें दूषित रक्त जैसा नालियों का मैला पानी बहता है और रोग के कीटाणुओं की तरह नगे मैले बालक घूमते हैं, मेरा उस दिन विशेष परिचय हुआ। किसी प्रकार एक तिमजिले मकान की सीढिया पार कर हम लोग ऊपर पहुँचे। दालान में ही मैली फटी दरी पर, खम्भे का सहारा लेकर बैठी हुई एक स्त्री-मूर्ति दिखाई दी, जिसकी गोद में मैले कपडों में लिपटा एक पिण्ड-सा था। वृद्ध मुझे वहीं छोड़कर भीतर के कमरे को पार कर दूसरी ओर के छज्जे पर जा खडे हुए, जहाँ से उनके थके शरीर और टूटे मन का द्वन्द्व धुधले चल-चित्र का कोई मूक पर करुण दृश्य बनने लगा।

एक उदासीन कण्ठ से 'आइये' में निकट आने का निमन्त्रण पाकर मैंने अभ्यर्थना करनेवाली की ओर ध्यान से देखा। वृद्ध से उसकी मुखाकृति इतनी मिलती थी कि आश्चर्य होता था। वही मुख की गठन, उसी प्रकार के चमकीले पर धुंधले नेत्र और वैसे ही कापते-से ओठ।

रूखे बाल और मलिन वस्त्रों में उसकी कठोरता वैसे ही दयनीय जान पड़ती थी जैसी जमीन में बहुत दिन गड़ी रहने के उपरान्त खोद कर निकाली हुई तलवार। कुछ खिजलाहट भरे स्वर ने कहा—'बड़ी दया की पिछले पांच महीने से हम जो कष्ट उठा रहे हैं उसे भगवान ही जानते हैं अब जाकर छुट्टी मिली है पर लड़की का हठ तो देखो। अनाथालय में देने के नाम से बिलखने लगती है, किसी और के पास छोड़ आने की चर्चा से अन्न-जल छोड़ बैठती है। बार-बार समझाया कि जिससे न जान न पहचान उसे ऐसी मुसीबत में घसीटना कहां की भलमनसाहत है, पर यहां सुनता कौन है! लाला जी बेचारे तो सकोच के मारे जाते ही नहीं थे, पर जब हार गये तब झक मार के जाना पड़ा। अब आप ही उद्धार करें तो प्राण बचे। इस लम्बी-चौड़ी सारगर्भित भूमिका से अवाक मैं जब कुछ प्रकृतिस्थ हुई तब वस्तुस्थिति मेरे सामने धीरे-धीरे वैसे ही स्पष्ट होने लगी जैसे पानी में कुछ देर रहने पर तल की वस्तुएं। यदि यह न कहूँ कि मेरा शरीर सिहर उठा था, पैर अवसन्न हो रहे थे और माथे पर पसीने की बूंदें आ गई थीं तो असत्य कहना होगा। सामाजिक विकृति का बौद्धिक निरूपण मैंने अनेक बार किया है पर जीवन की इस विभीषिका से मेरा यही पहला साक्षात था। मेरे सुधार सम्बन्धी दृष्टिकोण को लक्ष्य करके परिवार में प्राय: सभी ने कुछ निराश भाव से सिर हिला कर मुझे यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया कि मेरी सात्विक कला इस लू का झोंका न सह सकेगी और साधना की छाया में पले मेरे कोमल सपने इस धुयें में जी न सकेंगे। मैंने अनेक बार सबको यही एक उत्तर दिया है कि कीचड़ से कीचड़ को धो सकना न सम्भव हुआ है न होगा, उसे धोने के लिए निर्मल जल चाहिए। मेरा सदा से विश्वास रहा है कि अपने

दलों पर मोती-सा जल भी न ठहरने देनेवाली कमल की सीमातीत स्वच्छता ही उसे पंक में जीने की शक्ति देती है।

—और तब अपने ऊपर कुछ लज्जित होकर मैंने उस मटमैले शाल को हटाकर निकट से उसे देखा जिसको लेकर बाहर भीतर इतना प्रलय मचा हुआ था। उग्रता की प्रतिमूर्ति-सी नारी की उपेक्षा-भरी गोद और मलिनतम आवरण उस कोमल मुख पर एक अलक्षित करुणा की छाप लगा रहे थे। चिकने, काले और छोटे छोटे बाल पसीने से उसके ललाट पर चिपक कर काले अक्षरों जैसे जान पड़ते थे और मुंदी पलकें गालों पर दो अर्धवृत्त बना रही थीं। छोटी लाल कली जैसा मुंह नींद में कुछ खुल गया था, और उस पर एक विचित्र-सी मुस्कराहट थी, मानो कोई सुन्दर स्वप्न देख रहा हो। इसके आने से कितने भरे हृदय सूख गये, कितनी सूखी आखों में बाढ आ गयी और कितनों को जीवन की घड़िया भरना दूभर हो गया, इसका इसे कोई ज्ञान नहीं। यह अनाहूत, अवाञ्छित अतिथि अपने सम्बन्ध मे भी क्या जानता है? इसके आगमन ने इसकी माता को किसी की दृष्टि में आदरणीय नहीं बनाया, इसके स्वागत में मेवे नहीं बँटे, बधाई नहीं गायी गयी, दादा, नाना ने अनेक नाम नहीं सोचे, चाची, ताई ने अपने-अपने नेग के लिए वाद-विवाद नहीं किया और पिता ने इसमें अपनी आत्मा का प्रतिरूप नहीं देखा। केवल इतना ही नहीं, इसके फूटे कपाल में विधाता ने माता का वह अक भी नहीं लिखा जिसका अधिकारी, निर्धन-से-निर्धन, पीटित-से पीडित स्त्री का बालक हो सकता है।

समाज के क्रूर व्यग से बचने के लिए एक घोरतम नरक मे अज्ञातवास कर जब इसकी मां ने अकेले में यन्त्रणा से छटपटा-छटपटा कर इसे पाया तब मानो उसकी सास छूकर ही यह बुझे कोयले से दहकता

अगारा हो गया। यह कैसे जीवित रहेगा, इसकी किसी को चिन्ता नहीं है। है तो केवल यह कि कैसे अपने सिर बिना हत्या का भार लिए ही इसे जीवन के भार से मुक्त करने का उपकार कर सके! मन पर जब एक गम्भीर विषाद असह्य हो उठा तब उटकर मैंने उस बालिका को देखने की इच्छा प्रकट की। उत्तर में विरक्त-सी बुआ ने दालान की बाईं दिशा में एक अँधेरी कोठरी की ओर उँगली उठा दी।

भीतर जाकर पहले तो कुछ स्पष्ट दिखाई ही नहीं दिया, केवल कपडों की सरसराहट के साथ खाट पर एक छाया-सी उठती जान पडी पर कुछ क्षणों में जब आखें अधेरे की अभ्यस्त हो गयीं तब मैंने आले पर रखे हुए दिये के पास से दियासलाई उठा कर उसे जला दिया।

स्मरण नहीं आता वैसी करुणा मैंने कहीं और देखी है। खाट पर बिछी मैली दरी, सहस्रों सिकुड़न भरी मलिन चादर और तेल के कई धब्बे वाले तकिये के साथ मैंने जिस दयनीय मूर्ति से साक्षात् किया उस का ठीक चित्र दे सकना सम्भव नहीं है। वह १८ वर्ष से अधिक की नहीं जान पड़ती थी—दुर्बल और असहाय जैसी। सूखे ओठ वाले, सावले पर रक्त-हीनता से पीले मुख में आखें ऐसे जल रही थीं जैसे तेलहीन दीपक की बत्ती।

उस अस्वाभाविक निस्तब्धता से ही उसकी मानसिक स्थिति का अनुमान कर मैं सिरहाने रखी हुई ऊँची चौकी पर से लोटे को हटा कर उसी पर बैठ गयी। और तब न जाने किस अज्ञात प्रेरणा से मेरे मन का निष्क्रिय विषाद क्रोध के सहस्र स्फुलिंगों में बदलने लगा।

अपने अकाल वैधव्य के लिये वह दोषी नहीं ठहराई जा सकती, उसे किसी ने धोखा दिया इसका उत्तरदायित्व भी उस पर नहीं रखा जा

सकता, पर उसकी आत्मा का जो अंश, हृदय का जो खण्ड उसके समान है, उसके जीवन मरण के लिए केवल वही उत्तरदायी है। कोई पुरुष यदि उसको अपनी पत्नी नहीं स्वीकार करता तो केवल इसी मिथ्या के आधार पर वह अपने जीवन के इस सत्य को, अपने बालक को अस्वीकार कर देगी? संसार में चाहे इसको कोई परिचयात्मक विशेषण न मिला हो परन्तु अपने बालक के निकट तो यह गरिमामयी जननी की संज्ञा ही पाती रहेगी! इसी कर्तव्य को अस्वीकार करने का यह प्रबन्ध कर रही है। किसलिए? केवल इसलिए कि या तो उस वंचक समाज में फिर लौट कर गंगा-स्नान कर, व्रत-उपवास, पूजा-पाठ आदि के द्वारा सती विधवा का स्वांग भरती हुई और भूलों की सुविधा पा सके या किसी विधवा-आश्रम में पशु के समान नीलाम पर चढ़ कर कभी नीची, कभी ऊँची बोली पर बिके, अन्यथा एक एक बूंद विष पीकर धीरे-धीरे प्राण दे।

स्त्री अपने बालक को हृदय से लगा कर जितनी निर्भर है उतनी किसी और अवस्था में नहीं। वह अपनी संतान की रक्षा के समय जैसी उग्र चण्डी है वैसी और किसी स्थिति में नहीं। इसी से कदाचित् लोलुप संसार उसे अपने चक्रव्यूह में घेर कर बाणों से चलनी करने के लिए पहले इसी कवच को छीनने का विधान कर देता है। यदि यह स्त्रियां अपने शिशु को गोद में लेकर साहस से कह सकें कि 'बर्बरो, तुमने हमारा नारीत्व, पत्नीत्व सब ले लिया, पर हम अपना मातृत्व किसी प्रकार न देंगी' तो इनकी समस्याएँ तुरन्त सुलझ जावें। जो समाज इन्हें, वीरता, साहस और त्याग भरे मातृत्व के साथ नहीं स्वीकार कर सकता क्या वह इनकी कायरता और दैन्य भरी मूर्ति को ऊँचे सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर पूजेगा? युगों से पुरुष स्त्री को उसकी शक्ति के लिए नहीं सहन-शक्ति के लिए ही दण्ड देता आ रहा है।

मैं अपने भावावेश में इतनी अस्थिर हो उठी थी कि उस समय का कहा-सुना आज उसी रूप में ठीक-ठीक याद नहीं आता। परन्तु जब उसने खाट से जमीन पर उतर कर अपनी दुर्बल बाहों से मेरे पैरों को घेरते हुए मेरे घुटने में मुंह छिपा लिया, तब उसकी चुपचाप बरसती हुई आखों का अनुभव कर मेरा मन पश्चात्ताप से व्याकुल होने लगा।

उसने अपने नीरव आँसुओ में अस्फुट शब्द गूथ-गूंथ कर मुझे यह समझाने का प्रयत्न किया कि यह अपने बच्चे को नही देना चाहती। यदि उनके दादा जी राजी न हों तो मैं उसके लिये ऐसा प्रबन्ध कर दूं, जिससे उसे दिन में एक बार दो रूखी-सूखी रोटियाँ मिल सकें। कपडे वह मेरे उतारे ही पहन लेगी और कोई विशेष खर्च उसका नहीं है। फिर जब बच्चा बड़ा हो जायगा, तब जो काम उसको बता दूंगी वही तन-मन से करती वह जीवन बिता देगी।

पर जब तक वह फिर कोई अपराध न करे तब तक मैं अपने ऊपर उसका वही अधिकार बना रहने दूं जिसे वह मेरी लडकी के रूप में पा सकती थी। उसके माँ नहीं है, इसी से उसकी इतनी दुर्दशा सम्भव हो सकी—अब यदि मै उसे मा की ममता भरी छाया दे सकू तो वह अपने बालक के साथ कहीं भी सुरक्षित रह सकेगी।

उस बालिका माता के मस्तक पर हाथ रख कर मैं सोचने लगी कि कहीं यह वरद हो सकता। इस पतझड़ के युग में समाज से फूल चाहे न मिल सकें पर धूल की किसी स्त्री को भी कमी नहीं रह सकती, इस सत्य को यह रक्षा की याचना करने वाली नहीं जानती।

—सर २७ वर्ष की अवस्था में मुझे १८ वर्षीय लड़की और २२ दिन के नाती का भार स्वीकार करना ही पडा।

वृद्ध अपने सहानुभूतिहीन प्रान्त में भी लौट जाना चाहते थे, उपहास भरे समाज की विडम्बना में भी शेष दिन विताने को इच्छुक थे और व्यंग भरे क्रूर पडोसियों से भी मिलने को आकुल थे, परन्तु मनुष्यता की ऊँची पुकार में यह सस्कार के क्षीण स्वर दब गये।

अब आज तो वे किसी अज्ञात लोक में हैं। मलय के झोंके के समान मुझे कण्टक-वन में खींच लाकर उन्होंने जो दो फूलों की धरोहर सौंपी थी उससे मुझे स्नेह की सुरभि ही मिली है। हा, उन फूलों में से एक को शिकायत है कि मैं उसकी गाथा सुनने का अवकाश नहीं पाती और दूसरा कहता है कि मैं राजकुमार की कहानी नहीं सुनाती।

२१ नवंबर, १९३५

सात

वर्तमान की कौन-सी अज्ञात प्रेरणा हमारे अतीत की किसी भूली हुई कथा को सम्पूर्ण मार्मिकता के साथ दोहरा जाती है यह जान लेना सहज होता तो मैं भी आज गाव के उस मलिन सहमे नन्हे से विद्यार्थी की सहसा याद आ जाने का कारण बता सकती जो एक छोटी लहर के समान ही मेरे जीवन-तट को अपनी सारी आर्द्रता से छूकर अनन्त जल-राशि में विलीन हो गया है।

गगा पार झूसी के खडहर और उसके आस-पास के गावों के प्रति मेरा जैसा अकारण आकर्षण रहा है उसे देख कर ही सम्भवतः लोग जन्म-जन्मान्तर के सबन्ध का व्यग करने लगे हैं। है भी तो आश्चर्य की बात ! जिस अवकाश के समय को लोग इष्ट-मित्रों से मिलने, उत्सवों में सम्मिलित होने तथा अन्य आमोद-प्रमोद के लिए सुरक्षित रखते हैं उसी को मैं इस खडहर और उसके क्षत विक्षत चरणों पर पछाड़ें खाती हुई भागीरथी के तट पर काट ही नहीं, सुख से काट देती हूँ।

दूर पास बसे हुए, गुडियों के बड़े बडे घरौंदों के समान लगने वाले कुछ लिपे-पुते, कुछ जीर्ण-शीर्ण घरों से स्त्रियों का झुण्ड पीतल-ताबे के चमचमाते मिट्टी के नये लाल और पुराने भदरग घडे लेकर गगाजल भरने आता है उसे भी में पहचान गई हूँ। उनमे कोई बूटेदार लाल, कोई निरी काली, कोई कुछ सफेद और कोई मैल और सूत मे अद्वैत स्थापित करनेवाली, कोई कुछ नई और कोई छेदों से चलनी बनी हुई

धोती पहने रहती है। किसी की मोम लगी पाटियों के बीच में एक अगुल चौड़ी सिंदूर रेखा अस्त होते हुए सूर्य की किरणों में चमकती रहती है और किसी के कड़ुवे तेल से भी अपरिचित रूखी जटा बनी हुई छोटी छोटी लटें मुख को घेर कर उसकी उदासी को और अधिक केन्द्रित कर देती । किसी की सावली गोल कलाई पर शहर की कच्ची नगदार चूडियों के नग रह रह कर हीरे-से चमक जाते हैं। और किसी के दुर्बल काले पहुँचे पर लाख की पीली मैली चूडिया काले पत्थर पर मटमैले चन्दन की मोटी लकीरें जान पडती हैं। कोई अपने गिलट के कडे-युक्त हाथ घडे की ओट में छिपाने का प्रयत्न-सा करती रहती है और कोई चादी के पछेली-ककना की झनकार के साथ ही बात करती है। किसी के कान में लाख की पैसे वाली तरकी धोती से कभी-कभी झाक भर लेती है और किसी के ढारें लम्बी जजीर से गला और गाल एक करती रहती हैं। किसी के गुदना गुदे गेहुँए पैरों में चांदी के कडे सुडौलता की परिधि-सी लगते हैं और किसी की फैली उँगलियों और सफेद एडियों के साथ मिली हुई स्याही राग और कासे के कडों को लोहे की साफ की हुई बेडियाँ बना देती है।

वे सब पहले हाथ-मुँह धोती हैं फिर पानी में कुछ घुस कर घड़ा भर लेती हैं—तब घडा किनारे रख सिर पर इँडुरी ठीक करती हुई मेरी ओर देखकर कभी मलिन, कभी उजली, कभी दु ख की व्यथा-भरी, कभी सुख की कथा-भरी मुस्कान से मुस्करा देती हैं। अपने मेरे बीच का अन्तर उन्हें ज्ञात है तभी कदाचित् वे इस मुस्कान के सेतु से उसका बार-बार जोड़ना नहीं भूलतीं।

ग्वालों के बालक अपनी चरती हुई गाय-भैंसों मे से किसी को उस ओर बहकते देखकर ही लकुटो लेकर दौड पडते , गडरियों के बच्चे अपने झुण्ड की एक भी बकरी या भेड को उस ओर बढते देखकर कान पकड कर खींच ले जाते हैं और व्यर्थ दिन भर गिल्ली-डडा खेलनेवाले निठल्ले लडके भी बीच-बीच मे नजर बचा कर मेरा रुख देखना नही भूलते।

उस पार शहर में दूध बेचने जाते या लौटते हुए ग्वाले, किले में काम करने जाते या घर आते हुए मजदूर, नाव बाधते या खोलते हुए मल्लाह, कभी-कभी 'चुनरी त रँगाउब लाल मजीठी हो' गाते-गाते मुझ पर दृष्टि पडते ही अकचका कर चुप हो जाते हैं। कुछ विशेष सभ्य होने का गर्व करनेवालों से मुझे एक सलज्ज नमस्कार भी प्राप्त हो जाता है।

कह नहीं सकती कब और कैसे मुझे उन बालकों को कुछ सिखाने का ध्यान आया। पर जब बिना कार्यकारिणी के निर्वाचन के, बिना पदाधिकारियों के चुनाव के बिना भवन के, बिना चदे के अपील के और साराश यह कि बिना किसी चिर-परिचित समारोह के, मेरे विद्यार्थी पीपल के पेड की घनी छाया में मेरे चारों ओर एकत्र हो गये तब मैं बड़ी कठिनाई से गुरु के उपयुक्त गम्भीरता का भार वहन कर सकी।

और वे जिज्ञासु कैसे थे सो कैसे बताऊँ! कुछ कानों में बालिया और हाथों में कडे पहने, धुले कुरते और ऊँची मैली धोती में नगर और ग्राम का सम्मिश्रण जान पडते थे, कुछ अपने बडे भाई का पाव तक लम्बा कुरता पहने, खेत में डराने के लिए खडे किए हुए नकली आदमी का स्मरण दिलाते थे, कुछ उभरी पसलियों, बडे पेट और टेढी दुर्बल टागों के कारण अनुमान से ही मनुष्य-सतान की परिभाषा में आ सकते थे और कुछ अपने दुर्बल रूखे और मलिन मुखों की करुण सौम्यता और

निष्प्रभ पीली आंखों में संसार भर की उपेक्षा बटोरे बैठे थे। पर घीसा उनमें अकेला ही रहा और आज भी मेरी स्मृति में अकेला ही आता है।

वह गोधूली मुझे अब तक नहीं भूली। सन्ध्या के लाल सुनहली आभा वाले उडते हुए दुकूल पर रात्रि ने मानो छिप कर अंजन की मूठ चला दी थी। मेरा नाव वाला कुछ चिन्तित-सा लहरों की ओर देख रहा था, बूढ़ी भक्तिन मेरी किताबें, कागज-कलम आदि सँभाल कर नाव पर रख कर, बढते अन्धकार पर खिजला कर बुदबुदा रही थी या मुझे कुछ सनकी बनाने वाले विधाता पर, यह समझना कठिन था। बेचारी मेरे साथ रहते-रहते दस लम्बे वर्ष काट आयी है, नौकरानी से अपने आपको एक प्रकार की अभिभाविका मानने लगी है, परन्तु मेरी सनक का दुष्परिणाम सहने के अतिरिक्त उसे क्या मिला है! सहसा ममता से मेरा मन भर आया, परन्तु नाव की ओर बढते हुए मेरे पैर, फैलते हुए अन्धकार में से एक स्त्री-मूर्ति को अपनी ओर आता देख ठिठक रहे। सांवले, कुछ लम्बे-से मुखडे में पतले स्याह ओठ कुछ अधिक स्पष्ट हो रहे थे। आंखें छोटी, पर व्यथा से आर्द्र थीं। मलिन बिना किनारी की गाढे की धोती ने उसके सलूकारहित अंगों को भली भांति ढक लिया था, परन्तु तब भी शरीर की सुडौलता का आभास मिल रहा था। कन्धे पर हाथ रख कर वह जिस दुर्बल अर्धनग्न बालक को अपने पैरों से चिपकाये हुए थी उसे मैंने सन्ध्या के झुटपुटे में ठीक से नहीं देखा।

स्त्री ने रुक-रुक कर कुछ शब्दों और कुछ संकेत में जो कहा उससे मैं केवल यह समझ सकी कि उसके पति नहीं है, दूसरों के घर लीपने-पोतने का काम करने वह चली जाती है और उसका यह अकेला

लडका ऐसे ही घूमता रहता है। मैं इसे भी और बच्चों के साथ बैठने दिया करूँ तो यह कुछ तो सीख सके।

दूसरे इतवार को मैंने उसे सबसे पीछे अकेले एक ओर दुबक कर बैठे हुए देखा। पक्का रग पर गठन मे विशेष सुडौल मलिन मुख जिसमे दो पीली पर सचेत आखे जडी-सी जान पडती थीं। कस कर बन्द किए हुए पतले होठों की दृढता और सिर पर खडे हुए छोटे-छोटे रूखे बालों की उग्रता उसके मुख की सकोच-भरी कोमलता से विद्रोह कर रही थी। उभरी हड्डियो वाली गर्दन को सँभाले हुए झुके कन्धो से, रक्तहीन मटमैली हथेलियो और टेढे-मेढे कटे हुए नाखूनों युक्त हाथों वाली पतली बाहे ऐसी झूलती थीं जैसे ड्रामा मे विष्णु बनने वाले की दो नकली भुजाए। निरन्तर दौडते रहने के कारण उस लचीले शरीर में दुबले पैर ही विशेष पुष्ट जान पड़ते थे।—बस ऐसा ही था वह घीसा। न नाम मे कवित्व की गुञ्जाइश न शरीर में।

पर उसकी सचेत आखों में न जाने कौन-सी जिज्ञासा भरी थी। वे निरन्तर घडी की तरह खुली मेरे मुख पर टिकी ही रहती थी। मानो मेरी सारी विद्या-बुद्धि को सीख लेना ही उनका ध्येय था।

लडके उससे कुछ खिंचे-खिंचे से रहते थे। इसलिए नही कि वह कोरी था वरन् इसलिए कि किसी की मा, किसी की नानी, किसी की बुआ आदि ने घीसा से दूर रहने की नितान्त आवश्यकता उन्हे कान पकड़-पकड कर समझा दी थी।—यह भी उन्हीं ने बताया और बताया घीसा के सबसे अधिक कुरूप नाम का रहस्य। बाप तो जन्म से पहले ही नहीं रहा। घर मे कोई देखने-भालने वाला न होने के कारण मा उसे बँदरिया के बच्चे के समान चिपकाये फिरती थी। उसे एक ओर लिटा कर जब वह मजदूरी के काम में लग जाती थी तब पेट के बल घसिट-घसिट कर

वालक ससार के प्रथम अनुभव के साथ-साथ इस नाम की योग्यता भी प्राप्त करता जाता था ।

फिर धीरे-धीरे अन्य स्त्रिया भी मुझे आते-जाते रोक कर अनेक प्रकार की भावभगिमा के साथ एक विचित्र साकेतिक भाषा में घीसा की जन्म-जात अयोग्यता का परिचय देने लगीं। क्रमश. मैंने उसके नाम के अतिरिक्त और कुछ भी जाना ।

उसका वाप था तो कोरी, पर वडा ही अभिमानी और भला आदमी वनने का इच्छुक । डलिया आदि वुनने का काम छोड़ कर वह थोडी वढ़ई-गीरी सीख आया और केवल इतना ही नहीं, एक दिन चुपचाप दूसरे गाव से युवती वधू लाकर उसने अपने गाव की सव सजातीय सुन्दरी वालिकाओं को उपेक्षित और उनके और माता-पिता को निराश कर डाला । मनुष्य इतना अन्याय सह सकता है, परन्तु ऐसे अवसर पर भगवान की असहिष्णुता प्रसिद्ध ही है। इसी से जव गाव के चौखट किवाड वना कर और ठाकुरों के घरों में सफेदी करके उसने कुछ ठाट-वाट से रहना आरम्भ किया तव अचानक हैजे के वहाने वह वहा वुला लिया गया जहा न जाने का वहाना न उसकी वुद्धि सोच सकी न अभिमान । पर स्त्री भी कम गर्वीली न निकली । गाव के अनेक विधुर और अविवाहित कोरियों ने केवल उदारता-वश ही उसकी-नैया पार लगाने का उत्तरदायिव लेना चाहा, परन्तु उसने केवल कोरा उत्तर ही नहीं दिया प्रत्युत् उसे नमक-मिर्च लगा कर तीता भी कर दिया । कहा 'हम सिंघ के मेहरारू होइके का सियारन के जाव ।' फिर विना स्वर-ताल के आसू गिराकर वाल खोल कर, चूडिया फोड कर और विना किनारे की धोती पहनकर जव उसने वडे घर की विधवा का स्वाग भरना आरम्भ किया तव तो सारा समाज क्षोभ के समुद्र में डूवने-

उतराने लगा। उस पर घीसा बाप के मरने के बाद हुआ है। हुआ तो वास्तव मे छः महीने बाद, परन्तु उस समय के सम्बन्ध में क्या कहा जाय जिसका कभी एक क्षण वर्ष-सा बीतता है और कभी एक वर्ष क्षण हो जाता है। इसी से यदि वह छः मास का समय रबर की तरह खिंचकर एक साल की अवधि तक पहुँच गया तो इसमें गाववालों का क्या दोष !

यह कथा अनेक क्षेपकोमय विस्तार के साथ सुनायी तो गयी थी मेरा मन फेरने के लिए और मन फिरा भी, परन्तु किसी सनातन नियम से कथावाचकों की ओर न फिर कर कथा के नायकों की ओर फिर गया और इस प्रकार घीसा मेरे और अधिक निकट आ गया। वह अपना जीवन-सम्बन्धी अपवाद कदाचित पूरा नहीं समझ पाया था, परन्तु अधूरे का भी प्रभाव उस पर कम न था क्योंकि वह सब को अपनी छाया से इस प्रकार बचाता रहता था मानो उसे कोई छूत की बीमारी हो।

पढने, उसे सबसे पहले समझने, उसे व्यवहार के समय स्मरण रखने, पुस्तक मे एक भी धब्बा न लगाने, स्लेट को चमचमाती रखने और अपने छोटे-से छोटे काम का उत्तरदायित्व बड़ी गम्भीरता से निभाने में उसके समान कोई चतुर न था। इसी से कभी-कभी मन चाहता था कि उसकी मा से उसे माग ले जाऊ और अपने पास रखकर उसके विकास की उचित व्यवस्था कर दू—परन्तु उस उपेक्षिता पर मानिनी विधवा का वही एक सहारा था। वह अपने पति का स्थान छोडने पर प्रस्तुत न होगी यह भी मेरा मन जानता था और उस बालक के बिना उसका जीवन कितना दुर्वह हो सकता है यह भी मुझसे छिपा न था। फिर नौ साल के कर्तव्यपरायण घीसा की गुरु-भक्ति देख कर उसकी मातृ-भक्ति के सम्बन्ध मे कुछ सन्देह करने का स्थान ही नहीं रह जाता

था और इस तरह घीसा वहीं और उन्हीं कठोर परिस्थितियों में रहा जहा क्रूरतम नियति ने केवल अपने मनोविनोद के लिए ही उसे रख दिया था ।

शनिश्चर के दिन ही वह अपने छोटे दुर्बल हाथों से पीपल की छाया को गोबर-मिट्टी से पीला चिकनापन दे आता था। फिर इतवार को मा के मजदूरी पर जाते ही एक मैले फटे कपडे में बॅधी मोटी रोटी और कुछ नमक या थोडा चबेना और एक डली गुड बगल मे दबाकर, पीपल की छाया को एक बार फिर झाडने बुहारने के पश्चात् वह गगा के तट पर आ बैठता और अपनी पीली सतेज आखों पर क्षीण सावले हाथ की छाया कर दूर-दूर तक दृष्टि को दौडाता रहता। जैसे ही उसे मेरी नीली सफेद नाव की झलक दिखाई पडती वैसे ही वह अपनी पतली टागों पर तीर के समान उडता और बिना नाम लिए हुए ही साथियो को सुनाने के लिए गुरु साहब कहता हुआ फिर पेड के नीचे पहुँच जाता जहा न जाने कितनी बार दुहराये-तिहराये हुए कार्यक्रम की एक अन्तिम आवृत्ति आवश्यक हो उठती। पेड की नीची डाल पर रखी हुई मेरी शीतलपाटी उतार कर बार-बार झाड-पोंछ कर बिछायी जाती, कभी काम न आनेवाली सूखी स्याही से काली कच्चे काच की दावात, टूटे निब और उखडे हुए रगवाले भूरे हरे कलम के साथ पेड के कोटर से निकाल कर यथास्थान रख दी जाती और तब इस चित्र पाठशाला का विचित्र मत्री और निराला विद्यार्थी कुछ आगे बढ कर मेरे सप्रणाम -स्वागत के लिए प्रस्तुत हो जाता ।

महीने में चार दिन ही मैं वहा पहुँच सकती थी और कभी-कभी काम की अधिकता से एक आध छुट्टी का दिन और भी निकल जाता था, पर उस थोडे से समय और इने-गिने दिनों मे भी मुझे उस बालक

के हृदय का जैसा परिचय मिला वह चित्र के एल्बम के समान निरन्तर नवीन-सा लगता है।

मुझे आज भी वह दिन नहीं भूलता जब मैंने बिना कपडों का प्रबन्ध किये हुए ही उन बेचारों को सफाई का महत्त्व समझाते-समझाते थका डालने की मूर्खता की। दूसरे इतवार को सब जैसे के तैसे ही सामने थे—केवल कुछ गगा जी में मुह इस तरह धो आये थे कि मैल अनेक रेखाओं मे विभक्त हो गया था, कुछ ने हाथ-पाव ऐसे घिसे थे कि शेष मलिन शरीर के साथ वे अलग जोडे हुए-से लगते थे और कुछ 'न रहेगा बांस न बजेगी बासुरी' की कहावत चरितार्थ करने के लिए कीट से मैले फटे कुरते घर ही छोड कर ऐसे अस्थिपजरमय रूप मे आ उपस्थित हुए थे जिसमे उनके प्राण, 'रहने का आश्चर्य है गये अचम्भा कौन' की घोषणा करते जान पडते थे। पर घीसा गायब था। पूछने पर लडके काना-फूसी करने का या एक साथ सभी उसकी अनुपस्थिति का कारण सुनाने को आतुर होने लगे। एक-एक शब्द जोड-तोड कर समझना पडा कि घीसा मा से कपडा धोने के साबुन के लिए तभी से कह रहा था—मां को मज़दूरी के पैसे मिले नहीं और दूकानदार ने नाज लेकर साबुन दिया नही। कल रात को मा को पैसे मिले और आज सबेरे वह सब काम छोड कर पहले साबुन लेने गयी। अभी लौटी है, अतः घीसा कपडे धो रहा है क्योंकि गुरु साहब ने कहा था कि नहा-धोकर साफ कपडे पहन कर आना। और अभागे के पास कपडे ही क्या थे। किसी दयावती का दिया हुआ एक पुराना कुरता जिसकी एक आस्तीन आधी थी और एक अगौछा-जैसा फटा टुकडा। जब घीसा नहा कर गीला अँगौछा लपेटे और आधा भीगा कुरता पहने अपराधी के समान मेरे सामने आ खडा हुआ तब आंखे ही नहीं मेरा रोम-रोम गीला हो गया।

उस समय समझ में आया कि द्रोणाचार्य ने अपने भील शिष्य से अँगूठा कैसे कटवा लिया था।

एक दिन न जाने क्या सोचकर मैं उन विद्यार्थियों के लिए ५-६ सेर जलेबिया ले गयी पर कुछ तोलनेवाले की सफाई से कुछ तुलवाने वाले की समझदारी से और कुछ वहा की छीना-झपटी के कारण प्रत्येक को पाँच से अधिक न मिल सकीं। एक कहता था मुझे एक कम मिली, दूसरे ने बताया मेरी अमुक ने छीन ली, तीसरे को घर में सोते हुए छोटे भाई के लिए चाहिए, चौथे को किसी और की याद आ गयी। पर इस कोलाहल में अपने हिस्से की जलेबिया लेकर घीसा कहा खिसक गया यह कोई न जान सका। एक नटखट अपने साथी से कह रहा था 'सार एक ठो पिलवा पाले है ओही का देय बरे गा होई' पर मेरी दृष्टि से सकुचित होकर चुप रह गया। और तब तक घीसा लौटा ही। उसका सब हिसाब ठीक था—जलखई वाले छन्ने में दो जलेबिया लपेट कर वह माई के लिये छप्पर में खोस आया है, एक उसने अपने पाले हुए, बिना मा के कुत्ते के पिल्ले को खिला दी और दो स्वय खा लीं। 'और चाहिए' पूछने पर उसकी सकोच-भरी आखे झुक गयीं—ओठ कुछ हिले। पता चला कि पिल्ले को उससे कम मिली है। दे तो गुरु साहब पिल्ले को ही एक और दे दे।

और होली के पहले की एक घटना तो मेरी स्मृति में ऐसे गहरे रगों से अकित है जिसका धुल सकना सहज नहीं। उन दिनों हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य धीरे-धीरे बढ रहा था और किसी दिन उसके चरम सीमा तक पहुँच जाने की पूर्ण सभावना थी। घीसा दो सप्ताह से ज्वर में पड़ा था—दवा मैं भिजवा देती थी परन्तु देख-भाल का कोई ठीक प्रबन्ध न हो पाता था। दो चार दिन उसकी मा स्वय बैठी रही फिर एक अधी बुढिया को बैठा कर काम पर जाने लगी।

इतवार की साझ को मैं बच्चों को बिदा दे घीसा को देखने चली; परन्तु पीपल के पचास पग दूर पहुँचते-न-पहुँचते उसी को डगमगाते पैरों से गिरते-पडते अपनी ओर आते देख मेरा मन उद्विग्न हो उठा। वह तो इधर पन्द्रह दिन से उठा ही नहीं था, अतः मुझे उसके सन्निपात-ग्रस्त होने का ही सन्देह हुआ। उसके सूखे शरीर में तरल विद्युत-सी दौड़ रही थी, आंखें और भी सतेज और मुख ऐसे था जैसे हल्की आच में धीरे-धीरे लाल होने वाला लोहे का टुकडा।

पर उसके वात-ग्रस्त होने से भी अधिक चिन्ता-जनक उसकी समझ-दारी की कहानी निकली। वह प्यास से जाग गया था पर पानी पास मिला नहीं और अभी मनिया की आजी से मागना ठीक न समझकर वह चुपचाप कष्ट सहने लगा। इतने मे मुल्लू के कक्का ने पार से लौट कर दरवाजे से ही अधी को बताया कि शहर मे दगा हो रहा है और तब उसे गुरु साहब का ध्यान आया। मुल्लू के कक्का के हटते ही वह ऐसे हौले-हौले उठा कि बुढिया को पता ही न चला और कभी दीवार कभी पेड का सहारा लेता-लेता इस ओर भागा। अब वह गुरु साहब के गोट धर कर यहीं पडा रहेगा पर पार किसी तरह भी न जाने देगा।

तब मेरी समस्या और भी जटिल हो गयी। पार तो मुझे पहुँचना था ही पर साथ ही बीमार घीसा को ऐसे समझा कर जिससे उसकी स्थिति और गम्भीर न हो जाय। पर सदा के सकोची, नम्र और आज्ञाकारी घीसा का इस दृढ और हठी वालक में पता ही न चलता था। उसने पारसाल ऐसे ही अवसर पर हताहत दो मल्लाह देखे थे और कदाचित् इस समय उसका रोग से विकृत मस्तिष्क उन चित्रों मे गहरा रग भर कर मेरी उलझन को और उलझा रहा था। पर उसे समझाने का प्रयत्न करते-करते अचानक ही मैंने एक ऐसा तार छू दिया जिसका

स्वर मेरे लिए भी नया था। यह सुनते ही कि मेरे पास रेल में बैठ कर दूर-दूर से आये हुए बहुत से विद्यार्थी हैं जो अपनी मां के पास साल भर में एक बार ही पहुँच पाते हैं और जो मेरे न जाने से अकेले घबरा जायगे, घीसा का सारा हठ, सारा विरोध ऐसे बह गया जैसे वह कभी था ही नहीं।—और तब घीसा के समान तर्क की क्षमता किसमें थी! जो सांझ को अपनी माई के पास नहीं जा सकते उनके पास गुरु साहब को जाना ही चाहिए। घीसा रोकेगा तो उसके भगवान जी गुस्सा हो जायँगे क्योंकि वे ही तो घीसा को अकेला बेकार घूमता देखकर गुरु साहब को भेज देते हैं आदि-आदि उसके तर्कों का स्मरण कर आज भी मन भर आता है। परन्तु उस दिन मुझे आपत्ति से बचाने के लिए अपने बुखार से जलते हुए अशक्त शरीर को घसीट लाने वाले घीसा को जब उसकी टूटी खटिया पर लिटा कर मैं लौटी तब मेरे मन मे कौतूहल की मात्रा ही अधिक थी।

इसके उपरान्त घीसा अच्छा हो गया और धूल और सूखी पत्तियों को बाघ कर उन्मत्त के समान घूमने वाली गर्मी की हवा से उसका रोज सग्राम छिडने लगा—झाडते-झाडते ही वह पाठशाला धूल-धूसरित होकर भूरे, पीले और कुछ हरे पत्तो की चादर में छिप कर, तथा ककालशेष शाखाओं में उलझते, सूखे पत्तों को पुकारते वायु को सतप्त सरसर से मुखरित होकर उस भ्रान्त बालक को चिढाने लगती। तब मैंने तीसरे पहर मे सन्ध्या समय तक वहा रहने का निश्चय किया, परन्तु पता चला घीसा किसकिसाती आखों को मलता और पुस्तक से बार-बार धूल झाडता हुआ दिन भर वहीं पेड के नीचे बैठा रहता है मानो वह किसी प्राचीन युग का तपोव्रती अनगारिक ब्रह्मचारी हो जिसकी तपस्या भग करने के लिए ही लू के झोंके आते हैं।

इस प्रकार चलते-चलते समय ने जब दाईं छूने के लिए दौड़ते हुए बालक के समान झपट कर उस दिन पर उँगली धर दी जब मुझे उन लोगों को छोड़ जाना था तब तो मेरा मन बहुत ही अस्थिर हो उठा। कुछ बालक उदास थे और कुछ खेलने की छुट्टी से प्रसन्न! कुछ जानना चाहते थे कि छुट्टियों के दिन चूने की टिपकियां रख कर गिने जायं या कोयले की लकीरें खींचकर। कुछ के सामने बरसात में चूते हुए घर में आठ पृष्ठ की पुस्तक बचा रखने का प्रश्न था और कुछ कागजों पर अकारण कोही चूहों की समस्या का समाधान चाहते थे। ऐसे महत्त्वपूर्ण कोलाहल में घीसा न जाने कैसे अपना रहना अनावश्यक समझ लेता था, अतः सदा के समान आज भी मैंने उसे न खोज पाया। जब मैं कुछ चिन्तित-सी वहां से चली तब मन भारी-भारी हो रहा था, आँखों में कोहरा-सा घिर-घिर आता था। वास्तव में उन दिनों डाक्टरों को मेरे पेट में फोडा होने का सन्देह हो रहा था—ऑपरेशन की सम्भावना थी। कब लौटूंगी या नहीं लौटूंगी यही सोचते-सोचते मैंने फिर-कर चारो ओर जो आर्द्र दृष्टि डाली वह कुछ समय तक उन परिचित, स्थानों को भेंट कर वहीं उलझ रही।

पृथ्वी के उच्छ्वास के समान उठते हुए धुंधलेपन में वे कच्चे घर आकण्ठ मग्न हो गए थे—केवल फूस के मटमैले और खपरैल के कत्थई और काले छप्पर, वर्षा में बढ़ी गंगा के मिट्टी जैसे जल में पुरानी नावों के समान जान पड़ते थे। कछार के बालू में दूर तक फैले तरबूज और खरबूज के खेत अपने सिरकी और फूसके मुट्टियों, टट्टियों और रखवाली के लिए बनी पर्णकुटियों के कारण जल में बसे किसी आदिम द्वीप का स्मरण दिलाते थे। उनमें एक-दो दिये जल चुके थे तब मैंने दूर पर एक छोटा-सा काला धब्बा आगे बढ़ता देखा। वह घीसा ही होगा यह

मैंने दूर से ही जान लिया। आज गुरु साहब को उसे विदा देना है यह उसका नन्हा हृदय अपनी पूरी सवेदना-शक्ति से जान रहा था इसमें सन्देह नहीं था। परन्तु उस उपेक्षित बालक के मन में मेरे लिए कितनी सरल ममता और मेरे विछोह की कितनी गहरी व्यथा हो सकती है यह जानना मेरे लिए शेष था।

निकट आने पर देखा कि उस धूमिल गोधूली में बादामी कागज पर काले चित्र के समान लगने वाला नगे वदन घीसा एक बडा तरबूज दोनों हाथों में सम्हाले था जिसमें बीच के कुछ कटे भाग मे से भीतर की ईषत-लक्ष्य ललाई चारो ओर के गहरे हरेपन में कुछ खिले कुछ बन्द गुलाबी फूल जैसी जान पडती थीं।

घीसा के पास न पैसा था न खेत—तब क्या वह इसे चुरा लाया है! मन का सन्देह बाहर आया ही और तब मैंने जाना कि जीवन का खरा सोना छिपाने के लिए उस मलिन शरीर को बनाने वाला ईश्वर उस बूढे आदमी से भिन्न नहीं जो अपनी सोने की मोहर को कच्ची मिट्टी की दिवार में रख कर निश्चिन्त हो जाता है। घीसा गुरु साहब से झूठ बोलना भगवान जी से झूठ बोलना समझता है। वह तरबूज कई दिन पहले देख आया था। माई के लौटने मे न जाने क्यो देर हो गई तब उसे अकेले ही खेत पर जाना पडा। वहा खेत वाले का लडका था जिसकी उसके नये कुरते पर बहुत दिन से नजर थी। प्राय सुना-सुना कर कहता रहता था कि जिनकी भूख जूटी पत्तल से बुझ सकती है उनके लिए परोसा लगाने वाले पागल होते हैं। उसने कहा पैसा नहीं है तो कुरता दे जाओ। और घीसा आज तरबूज न लेता तो कल उसका क्या करता। इससे कुरता दे आया—पर गुरु साहब को चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि गर्मी मे वह कुरता

पहनता ही नहीं और जाने-आने के लिए पुराना ठीक रहेगा। तरबूज सफेद न हो इसलिए कटवाना पडा—मीठा है या नही यह देखने के लिए उँगली से कुछ निकाल भी लेना पडा।

गुरु साहब न ले तो घीसा रात भर रोयेगा —छुट्टी भर रोयेगा, ले जावे तो वह रोज नहा-धोकर पेड के नीचे पढा हुआ पाठ दोहराता रहेगा और छुट्टी के बाद पूरी किताब पट्टी पर लिख कर दिखा सकेगा।

और तब अपने स्नेह मे प्रगल्भ उस बालक के सिर पर हाथ रख कर मैं भावातिरेक से ही निश्चल हो रही। उस तट पर किसी गुरु को किसी शिष्य से कभी ऐसी दक्षिणा मिली होगी ऐसा मुझे विश्वास नहीं, परन्तु उस दक्षिणा के सामने ससार मे अब तक सारे आदान-प्रदान फीके जान पडे।

फिर घीसा के सुख का विशेष प्रबन्ध कर मैं बाहर चली गयी और लौटते-लौटते कई महीने लग गये। इस बीच मे उसका कोई समाचार न मिलना ही सम्भव था। जब फिर उस ओर जाने का मुझे अवकाश मिल सका तब घीसा को उसके भगवान जी ने सदा के लिए पढने से अवकाश दे दिया था—आज वह कहानी दोहराने की मुझमे शक्ति नहीं है पर सम्भव है आज के कल, कल के कुछ दिन, दिनों के मास और मास के वर्ष बन जाने पर मैं दार्शनिक के समान धीर-भाव से उस छोटे जीवन का उपेक्षित अन्त बता सकूँगी। अभी मेरे लिए इतना ही पर्याप्त है कि मैं अन्य मलिन मुखो मे उसकी छाया ढूढती रहूँ।

१७ अगस्त, १९३६

आठ

भारी ढक्कन से ढके दीपक के समान आकाश में बिजली बुझ गयी थी। सन्ध्या से ही हवा बादलों की तह-पर-तह जमाने में व्यस्त रही और अब वे इतने सघन हो उठे कि रात छायारूपों के उपयुक्त ही एक अखण्ड पर अपनी आर्द्रता से रिसती हुई काली शिला की छत बन गये

मेरा मन भी बुझा-बुझा-सा हो रहा था। मैं अपने पढने-लिखने के बाहर वाले छोटे कमरे में मेज पर सिर रख कर दर्द भुलाने की असफल चेष्टा कर रही थी। छात्रावास में टाइफाइड में पडी सुदूर दक्षिण की एक बालिका का मुख मेरी बन्द पलकों में किसी फोटो के इन्लार्जमेन्ट के समान बढता चला जाता था। उसके साधारण स्थिति वाले माता-पिता इतना रुपया किस प्रकार पाते कि उसे देखने आ सकते। उसके लिए मन जैसे-जैसे चिन्ताकुल होने लगा वैसे-वैसे अपने ऊपर झल्लाहट बढने लगी।

जब मेरा शरीर इतना निकम्मा था कि इन के सुख-दुख में दो-चार रात जागना भी सहज नहीं तब किस बूते पर मैंने इन बालिकाओं को उनकी माताओं से इतनी दूर ला रखा है ? जब अभी तक मनुष्य बनने की स्वय मेरी ही साधना पूर्ण नहीं हुई तब इन बालिकाओं को मनुष्य बनाने का भार लेने का मुझे हौसला कैसे हुआ ? ऐसे दम्भ को अक्षम्य अपराधों की कोटि में ही स्थान मिलना चाहिये। सहसा बाहर बरामदे में किसी की पैछड ने मेरी विचार-शृ खला भग कर दी।

दो-चार मिनट किसी के पुकारने की प्रतीक्षा करके, पूछना ही पडा—कौन ? उत्तर में एक सुडौल गोरे हाथ ने कुछ बढ कर परदे को हिला-सा

दिया। एक सभीत स्त्री-कण्ठ ने रुक-रुककर प्रश्न किया, 'क्या भीतर आ सकती हूँ?' 'आइये'—कहते समय मेरे स्वर में ऐसी उदासीन शिष्टता थी कि आने वाली के पैर बाहर एक बार ठिठक-से रहे, पर क्षण भर ही; क्योंकि दूसरे क्षण ही वह नीले परदे की पार्श्वभूमि पर एक रंगीन चित्र-सी बन गयी।

गहरे काही रंग की पतली ऊनी चादर में समा न सकने के कारण वर्षा की नन्ही-नन्ही बूँदें ऊपर ही जड़ी-सी थीं जो बिजली के आलोक में हीरे की चूर-सी झिलमिलाने लगीं। चादर उतार कर जब वह मेरी दृष्टि का अनुसरण करती हुई सामने की कुर्सी पर बैठ गयी तब मेरी कुछ विस्मय और कुछ जिज्ञासा भरी दृष्टि उस मुख की रेखा-रेखा में, न जाने किस शब्दहीन उत्तर की खोज में भटकने लगी। आँखों के आस-पास लटकती हुई दो-तीन छोटी-छोटी लटों की छोरों में हिलती हुई पानी की बूँदें पारे-सी जान पड़ती थीं। सफेद साड़ी के कुछ धब्बीले बैंजनी किनारे से घिरा मुख सुडौल गोरा पर बहुत मुरझाया हुआ-सा लगा। नाक के अग्रभाग की लाली हाल ही में पोंछे गये आँसुओं की सूचना दे रही थी—पलकों की कोरें भी शायद रोने से ही कुछ-कुछ सूज आयी थीं जिनसे उनकी मर्मस्पर्शी व्यथा और भी गहरी हो उठी थी। ओंठ इतने सूख रहे थे कि उन्हें आर्द्र करने का प्रत्येक प्रयास अपनी एकरसता में भी एक नयी थकान का आभास देता जाता था। मैं स्वयं बहुत क्लान्त थी इसी से उसके कुछ कहने की प्रतीक्षा में रुकी रही। परन्तु जब उसने अपना सिर और अधिक नीचा कर लिया और आँख से ढुलका हुआ एक आँसू उसकी गोद में गिरने से पहले प्रकाश में एक उजली रेखा-सा चमक गया तब मुझे ध्यान आया कि मेरे सामने बैठी हुई यह स्त्री न जाने कौन सी व्यथा मुझे सुनाने आई है। इतनी

घिरी घटा और बूंदा-बांदी मे इसका घर से निकलना ही प्रमाणित किये देता है कि इसकी आवश्यकता कल तक भी नहीं टाली जा सकती थी।

मैंने कुछ उनींदे भाव से कोई असख्य बार पूछा हुआ और अति परिचय से पुराना प्रश्न ही पूछ लिया होगा, परन्तु 'मुझे कोई काम दीजिये' मे उत्तर पाकर मैं मानो जाग कर सतर्क हो बैठी। काम और योग्यता सबधी प्रश्न आवश्यक होने पर भी उस स्थिति के लिये निष्ठुर जान पडे। मेरी कठिनाई का समाधान उसने स्वय ही कर दिया। वह हिन्दी जानती है ...'गाना भी कहने के पहिले उसका सपूर्ण शरीर सकुचित हो उठा और कहने के उपरान्त स्फीत होता जान पडा मानो कोई कठिन काम समाप्त कर लिया हो।

कथा और आगे बढी। उनके पति डेढ वर्ष से बीमार है दवा-दारू में सब कुछ स्वाहा हो चुका है। गहने के नाम से उसकी उगली में चार माशे भर सोने का एक छल्ला शेष है। पति का एकमात्र उपहार होने के कारण इसे बेचने का विचार ही उसे क्लान्त कर देता है और बेच कर भी के दिन चलेगा ..यदि कोई काम न मिल सका तो वह स्वय भूखी रह कर मरने से भी नहीं डरती पर.. और उसका गला भर आया। पलकों की कोर तक आये हुए आसुओं को भी रोक लेने का इसे अभ्यास था। इसी से जिस वेग से उसका शरीर बेत के समान काप उठा था उससे मात्रा में कुछ अधिक सयम ने आखो की सजल निस्तब्धता को पिघलने नहीं दिया।

सात्वना-सूचक कोई उपयुक्त शब्द मुझे खोजने पर भी नहीं मिल सका और तब उसके माता-पिता, सास-ससुर आदि के सबध मे जिज्ञासा प्रकट कर मै अपने आवेग को छिपाने लगी। स्त्री का सपूर्ण शरीर

फिर पहले के समान ही सकुचित हो उठा—एक हल्की कम्पन लिये हुये शब्दो ने मुझे चौंका-सा दिया। सुसराल वाले रुष्ट हैं—वे उसे घर ले जाने को राजी नहीं और पति को अकेले जाना स्वीकार नहीं। विवाह के उपरान्त मा से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहा। उससे रुपया लेने से मृत्यु अच्छी है।

इतनी टीका के उपरान्त मैंने मूलतत्व का सूत्र पकड पाया। वह पतित कही जाने वाली मा की पुत्री है और बिना समाज के प्रवेश-पत्र के ही साध्वी स्त्रियों के मन्दिर मे प्रवेश करना चाहती है। उसे पता नहीं कि समाज के पास वह जादू की छडी है जिससे छूकर वह जिस स्त्री को सती कह देता है केवल वही सती होने का सोभाग्य प्राप्त कर सकती है। जिसे समाज ने एक बार कुलवधुओं की पक्ति से बाहर खडा कर दिया उसे जन्म-जन्मान्तर तक अपनी सभी भावी पीढियो के साथ बाहर गडे रहने को ही जीवन का सबसे बडा वरदान समझना चाहिये। और फिर समाज ने उन्हें क्या छोटा-मोटा काम दिया है। भगवान के विराट रूप के समान ही मनुष्य के विराट रूप की अर्चना का अधिकार इन्हीं को प्राप्त है, पर जब यह अपनी दुर्बुद्धि से अनुशासन भग कर देती है, तब इनका अपराध अक्षम्य हो उठता है। इन्हे जानना ही चाहिये कि जिसने ऊँचे स्वर्ग की सृष्टि की है, उसी ने नीचे पाताल की रचना भी की है। यदि पाताल के सब जीव जन्तु स्वर्ग की ओर दौड पड़ें तो सृष्टि एक दिन भी न चले। अपनी इच्छानुसार ही जीवन को बदल कर यह समाज मे जो एक अव्यवस्था उत्पन्न कर रही है, उसे रोकने के लिए इन्हे दण्ड देना आवश्क ही नहीं अनिवार्य हो उठता है, नहीं तो समाज की इन पर कुछ कम ममता नही। भला किसे अपनी सृष्टि का मोह नहीं होता। समाज इन्हे न जाने कितने दीर्घ काल से, कितने ही उपायों के द्वारा

समझाता आ रहा है कि यह माता, पुत्री, पत्नी आदि त्रिगुणात्मक उपाधियों से रहित जीवनमुक्त नारा-मात्र हैं और इनकी इसी मुक्ति से समाज का कल्याण बधा हुआ है। फिर भी यदि यह अपने गुरु कर्त्तव्य से च्युत होकर पत्नीत्व, मातृत्व आदि सम्बन्धों को चुराती फिरे तो समाज चुराई हुई वस्तु पर इनका स्वत्व स्वीकार करके क्या अपना विधान ही मिथ्या कर दे ?

पत्नीत्व की चोरी करने वाली वह अबोध स्त्री अवश्य ही समाज के जटिल नीतिशास्त्र को समझने में असमर्थ रही तभी तो उसकी जिज्ञासा भरी दृष्टि मेरे मुख पर स्थिर होकर मानो बड़े करुण-भाव से बार-बार पूछने लगी, 'क्या मैं पवित्र नहीं हूँ' ? एक ओर यह स्त्री है जिसकी माता को माता बनने का अधिकार ही नहीं दिया गया था और दूसरी ओर मैं हूँ जिसकी माता, नानी, परनानी, दादी, परदादी, और उनकी भी पूर्वजाएँ अपने पतियों का चरणोदक ले-लेकर और उनमें से कई जीवित ही अग्निपथ पार करके अपने लिए ही नहीं मेरे लिये भी पतिव्रता का प्रमाण-पत्र प्राप्त कर चुकी हैं। मैं अनेकों से पूजनीया मा और आदरणीया बहिन का सम्बोधन पाती रहती हूँ, किन्तु इसे कौन अभागा मा बहिन कह कर अपवित्र बनेगा ? और वह जानना चाहती है, अपने अपवित्र माने जाने का कारण ? यह अपने विद्रोही पति के साथ सती ही क्यों न हो जावे, परन्तु इसके रक्त के अणु-अणु मे व्याप्त मलिन सस्कार कैसे धुल सकेगा ! स्वेच्छाचार से उत्पन्न यह पवित्रता की साधना उस शूद्र की तपस्या के समान ही बेचारे समाज की वर्ण-व्यवस्था का नाश कर रही है, जिसका मस्तक काटने के लिये स्वय मर्यादा पुरुषोत्तम दौड़ पड़े थे।

उसे घर भेजने का प्रबन्ध कर मैं जब फाटक से लौटी तब धरती और मेरे पैर लोहा-चुम्बक बन रहे थे। उस रात कितनी देर तक मैं इसी

समस्या में उलझी रही यह याद नहीं आता, पर कोई समाधान न निकल सका। अपने पति की प्रतिष्ठा के लिए और अपने आत्मसम्मान के लिए भी वह दान नहीं स्वीकार करेगी .. और काम देने की बात का स्मरण कर मेरे ओठों में एक व्यंग की हँसी आये बिना न रह सकी। वह क्या जाने कि उसकी उपस्थिति क्या-क्या अनर्थ कर सकती है।

—फिर दो दिन प्रयत्न करने पर भी जब उसका कहीं प्रबन्ध न हो सका तब मैंने क्या किया, इसकी कथा मनो विज्ञान सम्बन्धी मेरे अज्ञान को प्रकट करती है। कभी कोई ऐसा लेख नकल करने के लिए दे दिया जिसके पृष्ठों का कोई उपयोग ही शेष न रहा था। कभी कोई ऐसा पत्र लिखवा दिया जिससे रद्दी कागजों की टोकरी का ही गौरव बढ़ता था। पर जब उसकी दृष्टि संकोच के भार से और अधिक नत हो गयी, कण्ठ और अधिक कुण्ठित जान पड़ने लगा तब मैंने समझा कि उसने इस काम के अभिनय के भीतर तक देख लिया है। मुझे उसके काम की आवश्यकता नहीं, यह जब उसका रोम-रोम जानने लगा तब इस अभिनय को और चलाने का मेरा साहस भी समाप्त हो आया।

—फिर कुछ दिनों तक उसका कोई समाचार ही नहीं मिल सका। कदाचित् पति का रोग अधिक भयकर हो उठा था। इस बीच में केवल एक उसने सहायता की याचना की जिससे मैंने समझ लिया कि मेरी सहानुभूति को सत्य रूप में ही उसने स्वीकार किया है।

दिन के सप्ताह और सप्ताह के महीने बन जाने पर एक दिन उसकी किसी परिचित स्त्री से मुझे इस करुण कथा का जो उपसंहार ज्ञात हुआ वह तो सुना-सुनाया ही कहा जायगा पर उसने मेरे मर्म को जितना स्पर्श किया उतना कोई और घटना नहीं कर सकी।

उस अभागी स्त्री की इतनी एकान्त साधना भी उसके पति को न

बचा सकी। अंतिम क्षण में पुत्र का मुख देखने जो पिता आये थे उन्होंने, अनाहार से दुर्बल, अनेक रातो से जागी हुई, वधू की ओर भूल कर भी दृष्टिपात नहीं किया। कदाचित् उसके मन में भी यही धारणा रही हो कि उसी अनाचारिणी के कारण उनके पुत्र को जीवन से हाथ धोना पड़ा है।

पडोसियों में से जब किसी ने आकर उसकी बेहोशी दूर की तब सब उसके मृत पति को ले जा चुके थे। रात भर वह उसी प्रकार बैठी रही परन्तु सवेरे ससुर को जाने के लिए सामान ठीक करते देख उसकी चेतना लौटी। अंचल से आंखे पोछ कर जब उसने किवाड की ओट से प्रश्न किया,'कै बजे चलना है' तो मानो ससुर-देवता पर गाज गिरी। प्रथम आघात सह कर जब उनमें बोलने की शक्ति लौटी तब उन्होंने भी क्रूरतम प्रहार किया। कहा, 'जो लेकर अपने घर से निकली थी वही लेकर भलमनसाहत से अपनी मा के पास लौट जाओ, नहीं तो तुम्हारे साथ हमें बुरी तरह पेश आना पडेगा। हमारे कुल में दाग लगाकर भी क्या तुम्हें सन्तोष नहीं हुआ ?'

स्त्री ने क्रोध नहीं किया, मान-अपमान का विचार नहीं किया। जिस घर पर उसका न्यायोचित अधिकार था उसी में पग भर भूमि की भीख मागने के लिए अञ्चल फैलाकर दीनता से कहा 'घर में कई नौकर-चाकर हैं। मेरे लिए दो मुट्ठी आटा भारी न होगा। मैं भी आप सब की सेवा करती हुई पडी रहूँगी।'

किन्तु ससुर का उत्तर लज्जा को भी लज्जित कर देने वाला था।

मुझ तक यह समाचार बहुत विलम्ब से पहुँच सका खोज करने पर किसी ने बताया, वह विधवा-आश्रम चली गयी है, किसी ने कहा, वह मा के पास लौट गयी।

धीरे-धीरे समय जब उसकी स्मृति को फीका कर चुका था तब अचानक एक मैले-कुचैले लिफाफे ने फिर सब कुछ सजीव कर दिया। वह अच्छी है, मुझे नहीं भूली है, पर और कष्ट नहीं देना चाहती। सिलाई, बुनाई आदि के द्वारा उसे कुछ मिल ही जाता है, जब नहीं मिलेगा तब मुझसे मांगने मे उसे सकोच न होगा।

और भी पूछा है, ऐसी किसी स्त्रियों को जीविका के साधन सिखाने के लिए जो आश्रम मैं खोलना चाहती थी उसे कब खोलूगी।

और मैं अपने मन से प्रश्न कर रही हूँ, 'क्या तुझे आज भी अभिजात्य का गर्व है ? क्या तुझे आज भी समाज द्वारा मिले भलाई-बुराई के प्रमाण-पत्रो पर विश्वास है ?'

६ सितम्बर, १९३७

नौ

अन्धे अलोपी के घटना-शून्य जीवन मे उपयोगिता का एक भी परमाणु है या नहीं इसकी खोज कोई तत्त्व-वैज्ञानिक ही कर सकेगा। मुझे तो उसकी कथा आसूभरी दृष्टि की छाया मे कापते हुए दुख-गीत की एक कडी-सी लगती रही है।

मैंने उसे कब देखा यह कहानी भी उसी के समान अपनी विचित्रता में करुण है।

वैशाख नये गायक के समान अपनी अग्निवीणा पर एक-से-एक लम्बा आलाप लेकर ससार को विस्मित कर देना चाहता था। मेरा छोटा घर गर्मी की दृष्टि से कुम्हार का देहाती आवा बन रहा था और हवा से खुलते बन्द होते खिडकी दरवाजों के कोलाहल के कारण आधुनिक कारखाने की भ्रान्ति उत्पन्न करता था। मैं इस मुखर ज्वाला के उपयुक्त ही काम कर रही थी अर्थात् उत्तर-पुस्तकों में अन्धाधुन्ध भरे ज्ञान-अज्ञान की राशि को विवेक मे तपा-तपा कर ज्ञान-कणों का मूल्य-निश्चित कर रही थी।

हम लोग भी कैसे विचित्र हैं। जब वर्फ, खस की टट्टी, बिजली के पखे आदि अनेक कृत्रिम उपचारों से भी हम अपनी बुद्धि का पिघलना नहीं रोक सकते तब दूसरो के ज्ञान की परीक्षा लेने बैठते हैं। यदि मस्तिष्क ठीक स्थिति में हो तो कदाचित् हम न्याय के लिए ऐसे अन्यायपरायण हो ही न सकें।

तीसरा पहर थके यात्री के समान मानो ठहर ठहर कर बढ रहा था। और मेरे हाथ और दृष्टि मे पृष्ठो पर दौड़ने की प्रतियोगिता चल रही थी

ऐसे अवसर पर किसी का भी आना हमारी अधीरता में झल्लाहट का पुट मिला देता है, उस पर यदि आगन्तुक के कण्ठस्वर में हमें उसके भिखारी-पन का आभास मिल गया हो तब तो कहना ही क्या। नौकर-चाकर सब अपनी-अपनी कोठरियों के अस्वाभाविक अन्धकार को और भी सघन करके स्वेच्छा से उलूक होने का सुख भोग रहे थे। सोचा न उठू। पुकारने वाले को असमय आने का दण्ड सहना चाहिए। परन्तु भिखारी के सम्बन्ध में मेरे सस्कार कुछ ऐसी तर्क-हीनता तक पहुँच चुके हैं जहाँ से अन्ध-विश्वास की सीमारेखा दूर नहीं रह जाती।

बचपन से बडे होने तक मा न जाने कितनी व्याख्या उपव्याख्याओं के साथ इस व्यवहार-सूत्र को समझाती रही हैं कि हमारी शिष्टता की परीक्षा तब नही हो सकती जब कोई बड़ा अतिथि हमे अपनी कृपा का दान देने घर में आता है वरन् उस समय होती है जब कोई भूला-भटका भिखारी द्वार पर खड़ा होकर हमारी दया के कण के लिए हाथ फैला देता है।

मां के जीवनकाल मे ऐसे अनेक अवसर आये होंगे जब मुझे सीखा हुआ पाठ स्मरण नही रहा पर जबसे वे अप्रसन्न होने की सीमा के पार पहुच चुकी हैं तबसे मुझे भूला हुआ भी सारी सूक्ष्म व्याख्याओं के साथ याद आने लगा है।

भिखारी की आवश्यकता से अधिक मुझे अपनी शिष्टता की परीक्षा का ध्यान था। निरुपाय उठना पडा। कई वार पुकारने के उपरान्त पुकारने वाली मूर्तिया पत्तों में दरिद्र नीम ही से छाया-याचना करने चल पडी थीं। ए, ओ आदि अपरिचय वोधक सज्ञा में अपना आमन्त्रण पहचान कर जब वे लौटीं तब उनके प्रति पग पर मेरा कौतूहल पैर बढाने लगा। चर्म के आवरण में से अपना विद्रोह प्रकट करने वाले

अस्थिपञ्जर के लिए फटे लम्बे कुरते को टोहरा कारागार बनाये ११-१२ वर्ष का बालक लाठी को एक ओर से थामे आगे-आगे आ रहा था और ऊंची धोती और मैली बंडी में अपने कंकाल को यथासम्भव मुक्ति दिये एक अन्धा लाठी के दूसरे छोर के सहारे टटोल-टटोल कर बढ़ते हुए पैरों से उसका अनुसरण कर रहा था ।

खेत में लकड़ी पर औंधाई हुई मटकी जैसे सिर को हिलाते हुए प्रौढ़ बालक ने वृद्ध युवक को आगे कर न जाने क्या बताया, पर जब उसने ऊपर मुख उठा कर नमस्कार किया तब ऐसा जान पड़ा मानो नमस्कार का लक्ष्य खजूर का पेड़ है ।

जीवन में पहली बार मेरा मन प्रश्न के उपयुक्त शब्दों की खोज में भटक कर उस नेत्रहीन के सामने मूक-सा रह गया ।

धूल के रंग के कपड़े और धूल भरे पैर तो थे ही, उस पर उसके छोटे-छोटे बालों, चपटे-से माथे, शिथिल पलकों की विरल बरुनियों, बिखरी-सी भौंहों, सूखे पतले ओंठों और कुछ ऊपर उठी हुई ठुड्डी पर राह की गर्द की एक पर्त इस तरह जम गई थी कि वह आधे सूखे क्ले मॉडल के अतिरिक्त और कुछ लगता ही न था । दृष्टि के आलोक से शून्य छोटी छोटी आंखें कच्चे कांच की मैली गोलियों के समान चमकहीन थीं जिनसे उस शरीर की निर्जीव मूर्तिमत्ता की भ्रान्ति और भी गहरी हो जाती थी ।

कदाचित् इसी कारण उसके कण्ठ-स्वर ने मुझे अज्ञात-भाव से चौंका दिया ।

इस वर्ग का जीवन खुली पुस्तक जैसा रहता है, अत महान ही नहीं तुच्छतम आवश्यकता के अवसर पर भी उसकी कथा आदि से अन्त तक सुना देना सहज हो जाता है । इसके विपरीत हमारा जटिल से-जटिलतम

होता हुआ अन्तर्जगत और कृत्रिम बनता हुआ जीवन ऐसी स्थिति उत्पन्न किये बिना नही रहता जिसमे बाहर के बगुलेपन को भीतर की सडी-गली मछलियां से सफेदी मिलने लगती है। इसी से हमारी तारतम्यहीन कथा अधिकाधिक अकथनीय बनती जाती है और सुख-दुख की सरल मार्मिकता निर्जीव होने लगती है। हम सहज भाव-से अपनी उलझी कहानी कह नही सकते। अतः जब कहने बैठते हैं तब कल्पना का एक एक तार सत्य की अनेक झकारों की भ्राति उत्पन्न करके उसे और अधिक उलझाने लगता है।

अन्धे अलोपी की कथा मे न मनोवैज्ञानिक गुत्थिया हाथ लगीं और न समस्याओं की भूलभुलैया प्राप्त हुई। हा, उसकी दैन्य भरी वाचालता से पता चला कि चक्षु के अभाव की पूर्ति उसकी रसना ने कर ली और इस प्रकार पच ज्ञानेन्द्रियो मे चाहे ज्ञान का उचित विभाजन न हो सका पर उसके परिमाण का सतुलन नहीं बिगडा।

उसका पिता काछी कुलावतस रहा पर बहुत दिनों तक अपने भावी वशधर की प्रतीक्षा करने के उपरान्त उसे याचक के रूप मे अलोपी देवी के द्वार पर उपस्थित होना पडा। अलोपी देवी कदाचित् उस उदार सूम के समान थीं जो अपने दानी होने की ख्याति के लिए दान करता है, याचक की आवश्यकता की पूर्ति के लिये नही। उनके मन्दिर से एक अखडित मनुष्य मूर्ति भी न निकल सकी। एक पुत्र दिया वह भी नेत्रहीन। मा-बाप ने उनके दान को उन्हीं के चरणो पर फेंक आने की कृतघ्नता तो नहीं दिखायी पर उनकी कृपणता की घोषणा कर अन्य याचकों को सावधान करने के लिए उसका नाम रख दिया अलोपीदीन।

वही अलोपीदीन अब तेईस वर्ष का हो चुका है और काछी पिता

अन्वे पुत्र से पितृऋण का व्याज-मात्र चुका कर मूल को अपनी सेवा से चुकाने के लिए पितरों के दरबार में चला गया है। मा तरकारिया लेकर फेरी लगाती है पर पुत्र को अच्छा नहीं लगता कि जवान आदमी बैठा रहे और बुढ़िया मर-मर कर कमावे। इसी से शाक-तरकारियों के तत्ववेत्ता ताऊ से यहा की चर्चा सुन वह काम की खोज मे निकल पड़ा है।

ऐसे आश्चर्य से मेरा कभी साक्षात् नहीं हुआ था। जीवन से अनजान किशोरों की सख्या कम नहीं जो सुख के साधनो के लिए उस मा से झगडते हैं जिसकी उँगलियों के पोर सिलाई करते-करते चलनी हो चुके हैं। कुलवधुओं के समान आसू पीनेवाले युवकों का अभाव नहीं जिनका पौरुष न दरिद्र पिता का सब कुछ छीन लेने में कुण्ठित होता है और न भिक्षावृत्ति से मूर्च्छित। अपनी पराजय को विजय माननेवाले ऐसे पुरुषों से भी समाज शून्य नहीं जो छोटे बच्चों को छोड़कर दिन-दिन भर परिश्रम करने वाली पत्नियों के उपार्जित पैसो से सिनेमा-घरों की शोभा बढा आते हैं।

साधारणत आज के पुरुष का पुरुषार्थ विलाप है। जितने प्रकार से, जितनी भावभंगियों के साथ, जितने स्वरों मे वह अपने निराश जीवन का मर्सिया गा सके, अपनी असमर्थता का स्यापा कर सके उतना ही वह स्तुत्य है और उतना ही अधिक पुरुष नाम के उपयुक्त है।

अन्धी आखों को आकाश की ओर उठाकर अपने पुरुषार्थ की दोहाई देनेवाले अलोपी को ऐसी परम्परा के न्यायालय में प्राणदण्ड के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिल सकता था।

कुछ प्रकृतिस्थ होकर मैंने प्रश्न किया 'तुम यहा कौनसा काम कर सकते हो?' अलोपी पहले से ही सब सोच समझ कर आया था—वह

के खेतों से सस्ती और अच्छी तरकारिया लायेगा—मेरे लिए और छात्रावास की विद्यार्थिनियों के लिए।

अपने जीवनव्यापी अँधेरेपन मे वह ऐसा व्यवसाय से उलझा हुआ कर्त्तव्य किस प्रकार सँभाल सकेगा, यह पूछने का अवकाश न देकर अलोपी ने अपने फुफेरे भाई रघू की ओर सकेत कर बताया कि उन दोनों के सम्मिलित पुरुपार्थ से कठिनतम कार्य भी सम्भव होते रहे हैं।

प्रस्ताव अभूतपूर्व था पर मैं भी कुछ कम विचित्र नहीं, इसी से रघू और अलोपी अपने दुर्बल कन्धों पर कर्तव्य का गुरु-भार लाद कर लौटे।

दूसरे दिन सबेरे ही एक हाथ से रघू की लाठी का छोर थामे और दूसरे से सिर पर रखी बड़ी सी छावड़ी सँभाले हुए अलोपी, 'मालिक हो ! मालिक हो !' पुकारने लगा।

मुझे क्या-क्या पसन्द है यह जानने के लिए जब वह अनुनय-विनय करने लगा तब मैं बडी कठिनाई में पडी। कुछ तरकारिया डाक्टरों ने मेरे पथ्य की सूची मे नहीं रखी हैं और शेप के लिए सदा से यही नियम रहा है कि जो भक्तिन के विवेक को रुचे वह मुझे स्वीकृत हो। फिर जिसे वर्ष में, कुछ महीने दही पर, कुछ फल पर, और कुछ खिचड़ी, दलिया आदि पथ्य पर बिताना पडते हों वह रुचि के सम्बन्ध में वीतराग हो ही जाता है। पर अलोपी को निराश न करने के लिए मैंने वह सब ले लिया जिसे वह मेरे लिए ही लाया था। पैसे देते समय अलोपी ने कहा वह महीने पर लेगा। जब मैंने अपने भूल जाने की सम्भावना और हिसाब लिखने की विरक्ति की व्याख्या आरम्भ की तब उसने बहुत विश्वास के साथ समझाया कि वह, दस तक पहाड़े और पहली किताब के विद्वान ताऊ की सहायता से मेरा हिसाब ठीक

रखेगा। छात्रावास का वहा की मेट्रन रखेगी ही। वहा इस युगल मूर्ति को लेकर जो विनोदात्मक कोलाहल मचा उसके सम्बन्ध में 'गिरा अनयन, नयन बिनु बानी' कहना ठीक होगा, पर दो-चार दिन में ही अलोपी सबकी ममता का पात्र बन गया। उसे जो स्वच्छन्दता प्राप्त थी वह दूसरे नौकरों को मिल ही नहीं सकती थी। मेस के लिपे आगन के एक कोने में वह पैर फैलाकर बैठता और तौल कर लाई हुई तरकारी फिर वहा के बडे तराजू पर तौलने लगता। उसका स्पर्श-ज्ञान इतना बढ गया था कि लौकी, कद्दू, कटहल आदि को हाथ में लेते ही वह उनका तोल बता देता था। तुलाते तुलाते वह शाक तरकारियों के प्रकार और खेपों के सम्बन्ध में, महराजिन, बारी आदि को न जाने कितना ज्ञातव्य बताता चलता था। प्राय छोटी बालिकाये उसे घेर कर चिड़ियो की तरह चहकती ही रहती थीं। उनके लिए वह अमरूद बेर आदि भी लाने लगा, जिनके दाम के सम्बन्ध में कुछ निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता। एक दिन जब कालेज के फलवाले ने शिकायत की कि अन्धा फल लाकर बच्चो को बाटता है, जिससे उसके व्यापार को हानि पहुँचती है, तब मैंने अलोपी से पूछा। उसने दात से जीभ की नोक दबा कर सिर हिलाते हुए जो उत्तर दिया उसका भावार्थ था कि दाम उसे मिल जाता है। फिर वह स्कूल के समय तो आता नहीं, अत फलवाले की उससे क्या हानि हो सकती है।

बालिकाये न अलोपी को झूठा ठहरा सकती थीं, न मेरे सामने झूठ बोल सकती थीं, अत. वे मौन रहीं। मेरे उचित अनुचित सम्बन्धी व्याख्यान के उत्तर में अलोपी ने मैली पिछौरी के छोर से धुंधली आखे पोंछते-पोंछते बताया कि उसकी एक आठ नौ वर्ष की चचेरी बहिन मर चुकी है। इन बालिकाओं के स्वर में उसे बहिन की भ्रान्ति होने

लगती है, इसी से अपनी दरिद्रता के अनुरूप दो-चार अमरूद, बेर, जामुन आदि ले आता है। उसके देहात मे तो ऐसी चीजों का कोई दाम नही लेता, फिर वह कैसे जानता कि शहर मे ऐसे देना बुरा माना जाता है। दाम लेकर खरीदता तो लेना किसी तरह उचित भी हो सकता था, पर वे फल उसे तरकारियो के साथ घलुये में मिल जाते हैं। इनसे पैसे बनाने की बात सोचकर उसका मन न जाने कैसा-कैसा होने लगता है। उन्मुख अलोपी के मुख का भाव देख कर मैं अपने डपोर-शखी न्याय का महत्व समझ गई और तब मेरा मन अपने ऊपर ही खीझ उठा। कहना व्यर्थ है कि अलोपी को अपने सिद्धान्त मे कोई परिवर्तन नहीं करना पडा।

अलोपी के नेत्र नहीं थे, इसी से सभवतः वह न प्रकृति के रौद्र रूप से भयभीत होता था और न उसके सौन्दर्य से बहकता था। मूसलाधार वृष्टि जब बर्फ के तूफान की भ्रान्ति उत्पन्न करती, बिजली जब लपटों के फव्वारे जैसी लगती और बादलो के गर्जन में जब पर्वतों के बोलने का आभास मिलता तब रग्घू तो चलते-चलते बाह से आखे छिपा लेता। पर भीगे चिथडे के गुड्डे के समान अलोपी, नाक की नोक से चूते हुये पानी की चिन्ता न कर भीगी उँगलियों से फिसलती लाठी थामे और हरे खेत के खण्ड जैसी छातडी सँभाले इस तरह पाव रखता मानो उन्हे आज ही पृथ्वी का पूरा परिचय प्राप्त करना है। एक बार भी कीचड में पैर पड जाने पर रग्घू की खैर न थी क्योंकि अलोपी आख वाले के पथ प्रदर्शन में ऐसी भूल अक्षम्य समझता था। जब शीत बर्फीले तारों का व्यूह-सा रच देती और पक्षाघात की सास जैसी हवा बहती तब रग्घू पहिले कुरते में मृगी के रोगी के समान हिलता और दात बजाता चलता, पर अलोपी सारी शक्ति से ठिठुरे ओठों के कपाट

बन्द किये और सर्दी से नीले नाखून और ऐंठी उँगलियां वाले पैरों को तोल-तोल कर रखता हुआ आता। ग्रीष्म में जब धूल ऐसी जान पडती मानो कोई पृथ्वी को पीस-पीस कर उडाये दे रहा है और लू जलते हुए व्यक्ति की तरह चीत्कार करती हुई इस कोने से उस कोने में दौडती फिरती तब हाथ से आखो पर ओट किये हुये रघू के जल्दी-जल्दी उठते हुये पैर मुझे भाड मे नाचते हुये दानो का स्मरण दिलाते थे। पर अलोपी पलके मूद कर आखो के अन्धकार को भीतर ही बन्दी बनाता हुआ अपने हर पग को इतनी धीरता से जलती धरती पर रखता था मानो उसके हृदय का ताप नापता हो। बसन्त हो या होली, दशहरा हो या दिवाली अलोपी के नियम में कोई व्यतिक्रम कभी नहीं देखा गया।

एक बार जब अपनी लबी अकर्मण्यता पर लज्जित हमारे हिन्दू-मुस्लिम भाई वीरता की प्रतियोगिता में सक्रिय भाग ले रहे थे तब अलोपी पहले से दुगुनी बडी डलिया में न जाने क्या-क्या भरे और एक बडी गठरी रघू की पीठ पर भी लादे सुन-सान रास्ते से आ पहुँचा। उसके दुस्साहस ने मुझे विस्मित न करके क्रोधित कर दिया। 'तुम हृदय के भी अन्धे हो, ऐसी अधेरी गलियों मे प्राण देकर कुछ स्वर्ग नही पहुँच जाओगे' आदि-आदि स्वागत वचनों के उत्तर मे अलोपी बैंगन लौकी टटोलने लगा। मेरे आगन में तरकारियों का टीला निर्माण कर वह वैसे ही मूक-भाव से छात्रावास की ओर चल दिया। वहा से लौट कर जब वह सूखी आखे पोंछता और ठिठकता-सा सामने आ खडा हुआ तब मेरा क्रोध बरस कर मिट चुका था और मन में ममता की सजलता व्याप्त थी।

मेरे कण्ठ मे आश्वासन का स्वर पहचान कर उसने रुक-रुक कर

बताया कि वह दो दिन के लिये तरकारिया ले आया है। मेट्रन से उसे ज्ञात हो गया था कि उनके भडार-घर अचार के समाप्त हो चुके हैं और बडियों मे फफूंदी लग गई है। केवल दाल से तो अलोपी जैसे व्यक्ति ही रोटी खा सकते हैं, अतः वह देहात से यह सब खरीद कर बचता-बचता यहा आ पहुँचा। उस बिना आखोंवाले आदमी को कौन सता-येगा, पर जब मेरी आज्ञा नहीं है तब वह घर से बाहर पैर नहीं रख सकता। अब दो दिन के लिए चिन्ता नहीं है, फिर तब तक यह झगडा समाप्त हो ही जायगा। अलोपी को ऐसे समय भी रोक रखना सम्भव नही हो सका, क्योंकि बूढी मा की रक्षा का भार उस पर था।

मैं बरामदे में हूँ या नहीं यह अलोपी देख न सकता था, पर ऐसा कभी नहीं हुआ कि उसने आते-जाते उस दिशा मे नमस्कार न कर लिया हो।

अनेक बार मैंने खाली डलिया के साथ नीम के नीचे बैठे अलोपी को भक्तिन से बहुत मनोयोगपूर्वक बातें करते देखा था। वार्त्तालाप का विषय भी कम महत्वपूर्ण नहीं रहता था। मुझे करेला अच्छा लगता है या कटहल, कचनार की कली पसन्द है या सहजन की फली, मेथी का साग रुचिकर होता है या पालक का, मीठा नीबू लाभदायक है या सन्तरा आदि प्रश्नो पर गम्भीरता से वाद-विवाद चलता।

एक बार की घटना अपनी क्षुद्रता मे भी मेरे लिए बहुत गुरु है। मैं ज्वर से पीडित थी। कई दिनों तक बरामदे को नमस्कार कर अलोपी ने रग्घू से कहा—जान पडता है इस बार गुरु जी बहुत गुस्सा हो गई हैं। पहले की तरह कुछ पूछती ही नहीं। पर जब उसे ज्ञात हुआ कि मैं बीमारी के कारण बाहर आ ही नही सकती तब वह बहुत अस्थिर हो उठा।

दूसरे दिन सन्देश मिला कि अलोपी मुझे देखने की आज्ञा चाहता है। उतने कष्ट के समय भी मुझे हँसी आये बिना न रह सकी। अन्धा अलोपी असख्य बार आज्ञा पाकर भी मुझे देखने में समर्थ कैसे हो सकता है। पर अलोपी भीतर आया और नमस्कार कर टटोलता-टटोलता देहली के पास बैठ गया। फिर अपनी धुधली, शून्य आंखों की आर्द्रता बाह से पोंछकर मिर्जई के एक छोर में लगी गाठ खोलते हुए उसने अपराधी की मुद्रा से बताया कि वह स्वय जाकर अलोपी देवी की विभूति लाया है। एक चुटकी जीभ पर रख ली जाय और एक माथे पर लगा ली जाय तो सब रोग-दोष दूर हो जायगा। कहने की इच्छा हुई—जब देवी तुम्हारा ही पूरा न कर सकीं तब मेरा क्या करेंगी। पर उनके वरदान की गम्भीरता ने मुख से कुछ न निकलने दिया। अलोपी देवी की दिव्यता प्रमाणित करने के लिए अलोपीदीन का कर्त्तव्य में वज्र और ममता में मोम के समान हृदय ही पर्याप्त होना चाहिए। उसके निकट, जिसका परिचय स्वर-समूह के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता उस व्यक्ति के प्रति इतनी सहानुभूति भूलने की वस्तु नहीं।

अलोपी को हमारे यहा आये तीसरा वर्ष चल रहा था। उसका कुछ भरा हुआ-सा ककाल कुरते से सज गया, सिर पर जब-तब साफा सुशोभित होने लगा और ऊँची धोती कुछ नीचे सरक आई। साधारणत महीने में ७० रु० से कुछ अधिक की ही शाक-तरकारियां आती थीं। दाम चुका कर और रग्घू को कुछ देकर भी अलोपी के पास इतना बच रहता था जिससे वह अपनी मा के साथ सुख से रह सके। और एक दिन तो रग्घू ने हँसते-हँसते बताया कि दादा का रुपया उसकी माई गाड कर रखने लगी है।

अलोपी के अँधेरे जीवन का उपसहार भी कम अन्धकारमय न हो इसका समुचित प्रबन्ध विधाता कर चुका था। एक दिन मेरे निकट बैठ कर अपने आपसे ससार-चर्चा करती हुई भक्तिन ने सुनाया— अलोपी अपना घर वसा रहा है। मैं इतनी विस्मित हुई कि भक्तिन की कथाओं के प्रति श्रद्धा की अपेक्षा भूल कर 'क्या' कह उठी और तब भक्तिन ने उसी प्रसन्न-मुद्रा से मेरी ओर देखा जिससे भीष्म ने रथ का पहिया ले दौड़ने वाले कृष्ण को देखा होगा। पता चला उसके कथन का प्रत्येक अक्षर बिना मिलावट का सत्य है।

एक काछिन, जो दो पतियों को मुक्ति दे आई है अन्धे के लिए स्वर्ग की रचना करना चाहती है, पर अलोपी की मां अपने वरदान में मिले पुत्र को अब फिर दान मे देना स्वीकार नहीं करती।

गर्मियों की छुट्टियों के बाद लौटकर सुना कि अलोपी की मा अलग रहने लगी और नई पत्नी ने आकर घर सँभाल लिया। फिर एक बार उसे देखने का अवसर भी मिला। मझोले कद की सुगठित शरीर वाली प्रोढा थी। देखने मे साधारण-सी लगी पर उसके कण्ठ में ऐसा लोच और स्वर मे ऐसा आत्मीयता भरा निमन्त्रण था जो किसी को भी आकर्षित किये बिना नही रहता, और कुछ विशेष चमकदार आखों में चालाकी के साथ-साथ ऐसी कठोरता झलक जाती थी जो उस पर विश्वास करना असम्भव नही तो कठिन अवश्य कर देती थी। अलोपी उसे कण्ठ स्वर से ही जानता था इसी से कदाचित् वह विश्वास कर सका।

रग्घू घर का भेदिया था, इसी से सब जान गए कि उसकी नई भौजी को रुपये की चर्चा के अतिरिक्त और कोई चर्चा नहीं सुहाती। कभी वह जानना चाहती है कि अलोपी ने गाढ़े दिन के लिए कुछ

बचा रखा है या नहीं, कभी पूछती है कि उसके पछेली और झुमके किस कोने में गाड कर रख दिये जाय।

अलोपी इस ढहते हुए स्वर्ग में छ महीने रह सका। फिर सुना कि उसकी चतुर पत्नी सब कुछ लेकर उसे माया-पाश से सदा के लिए मुक्ति दे गई है।

वह बेचारा तो कई दिन तक विश्वास ही न कर सका। खुदे गड्ढे को टटोल-टटोल कर देखता और फिर द्वार पर बैठकर उसकी प्रतीक्षा करने लगता है।

जब परोपकारी पड़ोसियों ने, उसके विश्वास की शिला को युक्तियों की एक-से एक मर्मभेदी सुरंगों से उडा दिया तब वह बीमार पड गया। पर निरन्तर कर्मयोग में दीक्षित पुलिस को यह शुभ समाचार देने की चर्चा चलते ही वह प्रशान्त निराशा भरी दृढता से कहने लगता—अपनी स्त्री को हुलिया लिखवा कर पकड़ मगाना नीच का काम है।

अलोपी कुछ अच्छा होने पर आने लगा, पर उसमें पहले जैसा जीवन नहीं रह गया था। पैर घसीट घसीट कर चलता, हाथ से लाठी छूट-छूट पडती। एक बार मेरे बरामदे की दिशा में नमस्कार करते समय छावडी नीचे आ रही। अलोपी के सब साहस सम्पूर्ण उत्साह और समस्त आत्मविश्वास को ससार का एक विश्वासघात निगल गया है, यह सत्य होने पर भी कल्पना जैसा जान पड़ता है।

अन्धे का दु ख गूगा होकर आया, अत सान्त्वना देने वाले उसके हृदय तक पहुँचने का मार्ग ही न पा सकते थे। मेरे बोलते ही वह लज्जा से इस तरह सिकुड़ जाता मानो उसके चारों ओर ओले बरस

रहे हों, इसी से विशेष कुछ कह सुनकर उसका सकोचजनित कष्ट बढाना मैंने उचित न समझा। पर अपने अपराध से अनजान और अकारण दण्ड की कठोरता से अवाक बालक जैसे अलोपी के चारों ओर जो अंधेरी छाया घिर रही थी उसने मुझे चिन्तित कर दिया था।

उसकी मा बड़ी मानता से प्राप्त अन्धे पुत्र का सब अपराध भूल गई थी पर हठी पुत्र ने अपने आप को क्षमा नही किया, अतः उन दोनों का वह करुण-मधुर अतीत फिर न लौट सका।

मैं दशहरे का अवकाश घर बिता रही थी। अलोपी एक दिन तर-कारिया देकर सन्ध्या समय तक मेस ही मे बैठा रहा। कभी बडी ममता से तराजू को छू कर देखता, कभी बडे स्नेह से पूसी की धनुषाकार पीठ को सहलाता और कभी विनोद से छोटी बालिकाओं को चिढाने लगता। फिर जाते समय मेरी कुत्ती फ्लोरा को अपनी पिछौरी मे बँधे मुरमरे देकर, हिरनी सोना को मूली की पत्तिया खिला कर और मेरे बरामदे को नमस्कार कर जो गया तो कभी नहीं लौटा।

तीसरे दिन रोने से सूजी आखोवाले रघू ने समाचार दिया कि उसका अन्धा दादा बिना उसे साथ लिए ही न जाने किस अज्ञात लोक की महायात्रा पर चल पडा।

ऐसे ही अचानक तो वह यहाँ भी आ पहुचा था, इसी से विश्वास होता है कि वह बिना भटके ही अपने गन्तव्य तक पहुँच जायगा।

बालक रघु के लिए दूसरे काम का प्रबन्ध कर मैंने अलोपी के शेष स्मारक पर विस्मृति की यवनिका डाल दी है। पर आज भी देहली की ओर देखते ही मेरी दृष्टि मानो एक छायामूर्ति मे पुञ्जीभूत होने लगती

है। फिर धीरे-धीरे उस छाया का मुख स्पष्ट हो चलता है। उसमें मुझे कच्चे काच की गोलियों जैसी निष्प्रभ आँखें भी दिखाई पड़ती हैं और पिचके गालों पर सूखे आँसुओं की रेखा का आभास भी मिलने लगता है। तब मैं आँखें मल-मल कर सोचती हूँ—नियति के व्यंग से जीवन और संसार के छल से मृत्यु पानेवाला अलोपी क्या मेरी ममता के लिए प्रेत होकर मँडराता रहेगा!

२० फरवरी, १९३८

दस

बदलू अपने बेडौल घडो का निर्विकार निर्माता भी था और अष्टावक्र जैसी रूपरेखा वाले बच्चों का निश्चिन्त विधाता भी। न कभी निर्जीव मिट्टी की सजीव विषमता ही उसका ध्यान आकर्षित कर सकी और न सजीव रक्त-मास की निर्जीव कुरूपता ही उसका समाधि भग करने का सामर्थ्य पा सकी।

मैंने उसे सदा एक ओर कच्चे, पक्के, टूटे, पूरे बर्तनों के ढेर से और दूसरी ओर मैले-कुचैले नगे, दुबले बच्चों की भीड से घिरा हुआ ही देखा। जैसे मिट्टी के बर्तन कुछ सुखाने, कुछ पकाने और कुछ उठाने-रखने मे टूटते रहते थे, उसी प्रकार बच्चे भी कुछ जन्म लेते ही, कुछ घुटनों के बल चलते हुए और कुछ टेढे-मेढे पैरों पर डगमगा कर माता पिता के काम मे सहायता देते हुए चल बसते थे। पर कभी उनके जन्म या मृत्यु के सम्बन्ध में बदलू को सुखी या दुःखी देखना सम्भव न हो सका। बदलू का चित्र खींच देना किसी भी चित्रकार के लिये सहज नही, क्योंकि वह ऐसी परस्पर विरोधी रेखाओं में बँधा था कि एक को स्पष्ट करने में दूसरी लुप्त होने लगती थी।

उसकी मुखाकृति सावली और सौम्य थी, पर पिचके गालों से विद्रोह करके नाक के दोनो ओर उभरी हुई हड्डिया उसे ककाल-सहोदर बनाये बिना नहीं रहतीं। लबा इकहरा शरीर भी कभी सुडौल रहा होगा, पर निश्चित आकाशी-वृत्ति के कारण असमय वृद्धावस्था के भार से झुक आया था। उजली छोटी आखे स्त्री की आखों के समान सलज थीं, पर एकरस उत्साह हीनता से भरी होने के कारण

चिकनी काली मिट्टी से गढी मूर्ति मे कौडियों से वनी आखों का स्मरण दिलाती रहती थीं। कापते ओठों मे से निकलती हुई गले की खरखराहट सुननेवाले को वैसे ही चौंका देती थी जैसे वासुरी में से निकलता हुआ शख का स्वर।

वदलू एक तो स्वभाव से ही मितभाषी था दूसरे मेरे जैसे नागरिक की श्रवण-शक्ति की सीमा से अनभिज्ञ अतः उससे कुछ कहने-सुनने के अवसर कम ही आ सके।

जब कभी जाते जाते मैं, उसके घूमते हुए चाक पर स्थिर-सी उँगलियों का निर्माण-क्रम देखने के लिए रुक जाती तब वह एकबारगी अस्थिर हो उठता। अपनी घबराहट छिपाने के लिए वह बार-बार खास कर गला साफ करता हुआ खरखराते स्वर में खेदन, दुखिया, नत्थू आदि को मचिया निकाल लाने के लिए पुकारने लगता। जब एक चलनी जैसी झरझरी और साढे तीन पायों पर प्रतिष्ठित मचिया का अधेरी कोठरी से उद्धार करने के लिए वे बच्चे प्रतियोगिता आरम्भ कर देते तब मैं वहा से विदा हो जाने ही में भलाई समझती थी। मेरे बैठने से मचिया की कुशल तो सदिग्ध हो ही जाती थी साथ ही मटके-मटकियों का भविष्य भी खतरे में पड सकता था।

वदलू का घर मेरे आने जाने के रास्ते में पडता था, अतः या तो मुझे लौटने की जल्दी रहती थी या पहुँचने की। ऐसा अवकाश निकालना कठिन था जिसे वहा विता देने से दूसरों के काम मे व्याघात न पड़ता हो।

हा, जिस दिन रधिया अपने द्वार पर मिट्टी छानती या घर का कोई और काम करते मिल जाती उस दिन कुछ देर रुकना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य हो उठता। उसे कभी वरसती आखों और कभी हँसते ओठों से, अपने एकरस जीवन की गाथा सुनाना अच्छा लगता था। उसकी

आखें, उसके ओठ, उसके हाथ-पैर सब मानो अपनी-अपनी कथा सुनाने को आतुर थे, इसी से शब्दों मे उसे थोडा ही कहना पडता था पर वह थोडा इतना मार्मिक रहता कि सुनानेवाला शीघ्र ही अपने आपको प्रकृतिस्थ नहीं कर पाता। किसी करुण रागिनी के समान उसकी कथा जितना उसके हृदय का मन्थन करती उतना ही दूसरे के हृदय का, अतः अनेक बार उस कुम्हार-वधू से अपने आवेग को छिपा लेना मेरे लिए भी कठिन हो जाता था।

रधिया को मूर्त्तिमती दीनता कहना चाहिए। किसी पुरानी धोती की मैली कोर फाड कर कसे हुए रूखे उलझे बाल पर्व-त्योहार पर काली मिट्टी से मैल धो भले ही लिए जाय पर उन्हे कडुये तेल की चिकनाहट से भी अपरिचित रहना पडता था। धोती और उसके किनारे को धूल एकाकार कर देती थी, उस पर उसकी जर्जरता इतनी बढी-चढी थी कि घूघट खींचने पर किनारी ही उगलियों के साथ नाक तक खिंची चली आती थी।

दुःख एक प्रकार का शृंगार भी बन जाता है, इसी कारण दुःखी व्यक्तियों के मुख, देखनेवाले की दृष्टि को बांधे बिना नहीं रहते।

रधिया के मुख का आकर्षण भी उसकी व्यथा ही जान पडती थी—वैसे एक-एक करके देखने से, मुख कुछ विशेष चौडा था। नाक आखों के बीच में एक तीखी रेखा खींचती हुई ओठ के ऊपर गोल हो गई थी। गहरे काले घेरे से घिरी हुई आखें ऐसी लगती थीं जैसे किसी ने उॅगली से दबा कर उन्हे काजल में गाड दिया हो। ओठों पर पडी हुई सिकुडन ऐसी जान पडती थी मानो किसी तिक्त दवा की प्याली के निरंतर स्पर्श का चिह्न हो। इन सब विषमताओं की समष्टि मे जो एक सामञ्जस्यपूर्ण आकर्षण मिलता था वह अवश्य ही रधिया के दुःख-

विगलित हृदय से उत्पन्न हुआ होगा। वह जीवन-रस से जितनी निचुड़ी हुई थी, दु ख में उतनी ही भीगकर भारी हो उठी, इसी कारण उसमें न वह शून्यता थी जो दृष्टि को रोक नहीं पाती और न वह हल्कापन, जो हृदय को स्पर्श करने की शक्ति नहीं रखता।

घिस कर गोल-से चपटे हो जाने वाले कासे के कड़े और मैल से रूप-रेखा-हीन लाख की चूड़ियों के अतिरिक्त और किसी आभूषण से रधिया का परिचय नहीं, पर वह इस परिचयहीनता पर खिन्न होती नहीं देखी गई। गठे हुए शरीर और भरे अगोंवाली वह स्त्री, सन्तान की अटूट शृखला और दरिद्रता की अघट छाया के कारण ऐसा ढाचा-मात्र रह गई थी जिसे चलता-फिरता देखना भी विस्मय का कारण हो सकता था।

इस वर्ग की स्त्रियों में जो एक प्रकार की कर्कश प्रगल्भता मिलती है उसका रधिया में सर्वथा अभाव रहा, सम्भवत. इसी कारण मेरी उदासीनता का कुतूहल में और कुतूहल का सम्मान में रूपान्तरित होना अनिवार्य्य हो गया। बदलू के प्रति उसका स्नेह गम्भीर और इसी से कोलाहलहीन था। न वह कभी घर की, बच्चों की और स्वय उसकी चिन्ता करता देखा गया और न रधिया के मुख से उसके गोबरगणेश पति की निन्दा सुनने का किसी को सौभाग्य प्राप्त हो सका। रधिया को विश्वास था कि उसका पति कुम्भकार-शिरोमणि और अच्छा कलावन्त है, केवल लोग उसकी महानता से परिचित नहीं।

सवेरे उठ कर कभी मक्का, कभी जुनरी; कभी बाजरा और कभी जौ चना पीसकर रधिया जिस कठोर कर्तव्य का आरम्भ करती उसका उपसहार तब होता था जब टिमटिमाते दिये के धुधले प्रकाश में या फुलझड़ी के समान पल भर जल कर बुझ जाने वाली सिरकियों के

उजाले के सहारे, कुछ उनींदे और कुछ रोते बच्चों में सवेरे की रोटी बट चुकती।

बच्चे जीवित थे पाच, पर उनकी सख्या बताते समय रधिया उन्हें भी गिनाये बिना नहीं रहती जो स्मृतिशेष रह गए थे। मृत तीन बच्चों की चर्चा जीवितों के साथ इस प्रकार घुली मिली रहती थी कि सुननेवाला उन्हे जीवित मानने के लिए वाध्य हो जाता। अन्तर केवल इतना ही था कि मृत तो कहानी के नायकों के समान केवल कहने-सुनने योग्य वायवी स्थिति में जीवित थे और जीवित, अपने कलावन्त पिता और मजदूरिन मा के काम मे सहायता देते-देते मरे जाते थे। मिट्टी खोदने से लेकर हाट में बर्तन पहुँचाने तक वे अपने दुर्बल नग्न शरीरों का उतना ही उपयोग करते थे जितने से उनके प्राणों को शरीर से सम्बन्ध विच्छेद न करने का बहाना मिलता रहे। सबसे छोटा चार-पाँच वर्ष का नत्थू भी जब अपने बढे पेट से दसगुनी बडी मटकी को सर पर लाद कर टेढे-मेढ़े सूखे पैरो पर अकडता हुआ हटिया जाने का उत्साह दिखाता, तब न उसके पुरुषार्थ पर हँसी आती थी न रोना।

बर्तनों के बेचने से पूरा नहीं पडता, अतः अपने जन्म-जात व्यवसाय से जीविका की समस्या हल न होती देख रधिया आस-पास के खेतों में काम करने चली जाती थी। कभी-कभी उसके खेत से और बदलू के हाट से लौटने तक छोटे-छोटे जीव बाहर से कच्चे चबूतरे पर या उसके नीचे धूल में जहा-तहा लेट कर बेसुध हो जाते। रधिया जब लौटती तब उन्हें भीतर पुरानी मैली धोती के बिछौने पर एक पक्ति में सुला देती। उस परिवर्तन-क्रम में जो जाग उठता था उसे छींके पर धरी हँडिया में से निकाल कर मोटी रोटी का टुकडा भेंट दिया जाता था और जो सोता रहता उसे स्नेह-भरी थपकियों पर ही रात बितानी पडती।

बदलू भी उस हँडिया के प्रसाद का अधिकारी था, पर इस सीमित अन्नकोष की अन्नपूर्णा को, कब नींद से अपने एकादशी व्रत का पारायण नहीं करना पडता यह जान लेना कठिन होगा।

विचित्र ही थे वे दोनों। पति भोजन नहीं जुटा पाता, वस्त्र का प्रबन्ध नहीं कर सकता और बच्चों के भविष्य या वर्तमान की चिन्ता नहीं करता, पर पत्नी को उसके दुर्गुण दुर्गुण ही नहीं जान पड़ते, असन्तोष का कोई कारण ही नहीं मिलता।

रधिया के किसी बच्चे के जन्म के समय कोई कोलाहल नहीं होता। छोटे लक्खी का जिस रात को जन्म हुआ उसकी सध्या तक मैंने रधिया को बडा घडा भर कर लाते देखा। घडा रखकर उसने मेरे लिए वही चिरपरिचित साढ़े तीन पायों वाली मचिया निकाल दी। उस पर बहुत सतर्कता से अपना सन्तुलन करती हुई मैं जब बच्चों से इधर उधर की बातें करने लगी तब रधिया ने अपने धारहीन हँसिये को चबूतरे के नीचे पडे पत्थर के टुकडे पर घिस-घिस कर धोना आरम्भ किया। मैंने कुछ हँसी और कुछ विस्मयभरे स्वर में पूछा, "रात में इसका क्या काम है ! क्या किसी का गला काटेगी !" उत्तर में रधिया बहुत मलिन-भाव से मुस्करा दी।

दूसरे दिन सोमवती अमावस्या होने के कारण मुझे अवकाश था इसी से वहा पहुँचना सम्भव हो सका। बदलू का चाक सदा के समान उदासीनता में गतिशील था पर बच्चे घर के द्वार को घेर कर कोलाहल मचा रहे थे। मैंने सकुचाये हुए बदलू की ओर न देख कर दुखिया से उसकी मा के सम्बन्ध में प्रश्न किया। वह अपने भाई-बहिनों में सबसे अधिक बातूनी होने के कारण एक-एक सास मे अनेक कथायें कह चली। उसके नया भइया हुआ है। माई ने चमारिन

काकी को नहीं बुलाने दिया—एक रुपया मागती थी। दराती से अपने आप नार काट दिया—उसार के कोने मे गडा है। भइया टिटहरी की तरह पाव सिकोडे, आँखे मूदे पडा है। बप्पा ने माई को बाजरे की रोटी दी है, इत्यादि महत्त्वपूर्ण समाचार मुझे कुछ क्षणों मे ही मिल गए। तब भीतर झाककर देखने का निष्फल प्रयत्न किया, क्योंकि मलिन वस्त्रों में लिपटी श्यामागिनी रधिया तो मिट्टी की धूमिल दीवारों से अन्धकार मे घुलमिल-सी गई थी। अपने भावी कुम्भकार को निकट आकर देखने का आमन्त्रण पाकर मैंने भीतर पाव रखा।

कोठरी में व्याप्त धुएँ और तम्बाकू की गन्ध हर सास को एक विचित्र रूप से बोझिल किये दे रही थी। गिंडोर से पुती पर दीमकों से चेचकरू दीवारें, खडे-खडे भारी छप्पर सँभालने मे असमर्थ होकर मानो अब बैठकर थकावट दूर कर लेना चाहती थी। चूल्हे के निकट-वर्ती कोने मे नाज रखने की मटमैली और काली मटकियो के साथ चमकते हुए लोटा थाली आदि, जेल की कठिन प्राचीर के भीतर एकत्र बिना क्लास और ए क्लास के बन्दी हो रहे थे। घर के बीच में गृह-स्वामी के लिए पडी हुई झूले जैसी खटिया की लम्बाई सोने वाले के पैरों को स्थान देना अस्वीकार कर रही थी। दीवार में बने गड्ढे जैसे आले मे न जाने कब से उपेक्षित पड़ा हुआ धूल-धूसरित दिया मानो अपने नाम की लज्जा रखने के लिए ही एक इंच भर बत्ती और दो बूद तेल बचाये हुए था।

ऐसे ही घर के पश्चिमवाले खाली कोने में रधिया अपने नवजात शिशु का, जीवन के साथ-साथ दरिद्रता से परिचय करा रही थी। आखे मूदे हुए वह ऐसा लगता था मानो किसी बडे पक्षी के अडे से तुरन्त

निकला हुआ बिना परों का बच्चा हो। नाल जहा से काटा गया था वहा कुछ सूजन भी आ गई थी और रक्त भी जम गया था।

मालूम हुआ चमारिन एक रुपये से कम मे राजी नही हुई इसीलिये फिजूलखर्ची उचित न समझकर उसने स्वय सब ठीक कर लिया।

पीड़ा के मारे उठा ही नहीं जाता था—लेटे-लेटे दराती से नाल काटना पड़ा इसी से ठीक से नहीं कट सका पर चिन्ता की बात नहीं है क्योंकि तेल लगा देने से दो-चार दिन मे सूख जायगा। मैंने आश्चर्य से उस विचित्र माता के म्लिन मुख की प्रशान्त और सौम्य मुद्रा को देखा।

उसके लिए मैं अभी हरीरा, दूध आदि का प्रबन्ध करने जा रही हूँ, सुन कर वह और भी करुण-भाव से मुस्कराने लगी। जो कहा उसका अर्थ था कि मैं कहाँ तक ऐसा प्रबन्ध करती रहूँगी, यह तो उसके जीवन भर लगा रहेगा।

चारा के पास निर्विकार-भाव से बैठे हुए बदलू को पुकार कर जब मैंने बनिये के यहाँ से गुड, सोंठ, घी आदि लाने का आदेश दिया तो वह मानो आकाश से नीचे गिर पड़ा। उसकी दुखिया की माई तो कहती थीं कि गुड़ देख कर उबकाई आती है, घी खाने से उसके पेट में शूल उठता है—इसी से तो वह बाजरे की रोटी देकर निश्चिन्त हो जाता है।

बदलू के सरल मुख को देख कर जब मैंने अपने मिथ्यापवाद के भार से सिकुडी सी रधिया पर दृष्टि डाली तब उस दम्पति से कुछ और पूछने की आवश्यकता नहीं रही। बदलू जिस वस्तु का प्रबन्ध नहीं कर सकता वह रधिया के लिये हानिकारक हो उठती है यह समझते देर नहीं लगी। पर अपने इस दिव्य ज्ञान को छिपा कर मैंने सहज भाव

से कहा—जो सब स्त्रिया खाती हैं वह दुखिया की माई को भी खाना पडेगा चाहे उबकाई आवे, चाहे शूल उठे।

उस घर मे सन्तान का जन्म जैसा आडम्बरहीन था, मृत्यु भी वैसी ही कोलाहलहीन आती थी ।

मुलिया तेज बुखार मे इधर उधर घूमती ही रही। जब चेचक के दाने उभर आये तब, भाई ने पकड़कर घर के अँधेरे कोने मे टूटी खटिया पर डाल दिया। लट से घर बुहारना, नीम पर देवी के नाम से जल चढाना आदि जो कर्त्तव्य रधिया के विश्वास और शक्ति के भीतर थे उनके पालन में कोई त्रुटि नहीं हुई, पर चौथे दिन उसने परमधाम की राह ली। उस बालिका पर बदलू की विशेष ममता थी, इसी से जब वह उसे यमुना के गम्भीर जल मे विसर्जित कर लौटा तब उसके शान्त मन मे छिपी मर्म व्यथा का अनुमान कर रधिया ने एक सपने की कथा गढ डाली। सपने में देवी मइया उससे कह रही थी कि इस कन्या को मैंने इतने ही दिन के लिए भेजा था, अब इसे मुझे लौटा दो। बदलू जैसे बुद्धू व्यक्ति का इस सपने से प्रभावित हो जाना अवश्यम्भावी था। जब स्वय देवी मइया उसकी मुलिया को ले जाने को उत्सुक थीं, तब कोई दवा न करना अच्छा ही हुआ। दवा दारू से लडकी तो बच ही नहीं सकती थी—उस पर देवी मइया का कोप सहना पड़ता। फिर उस लडकी का इससे अच्छा भाग्य क्या हो सकता था कि स्वय माता उस के लिए हाथ पसारे।

एक बार मैंने रधिया को उस के झूठ बोलने के सम्बन्ध में सार-गर्भित उपदेश दिया पर उसने अपने मैले फटे अचल मे आखे पोंछते हुए जो सफ़ाई दी वह भी कुछ कम सारगर्भित न थी। उसका आदमी बहुत भोला है। उसका हृदय इतना कोमल है कि छोटी-

छोटी चोरी से भी धीरज खो बैठता है। घर की दशा ऐसी नहीं कि उतने जीवों को दोनों समय भोजन भी मिल सके, इसी से वह अपने और बच्चों के छोटे मोटे दुःख को छिपा जाती है। अब भगवान उसे परलोक में जो चाहे दण्ड दें, पर किसी का कुछ छीन लेने के लिए वह झूठ नहीं बोलती।

रधिया का उत्तर ही मेरे लिए एक प्रश्न बन गया। उसके असत्य को असत्य भी कैसे कहा जाय और न कहें तो उसे दूसरा नाम ही क्या दिया जाय!

अनेक बार मैंने बदलू को समझाया कि यदि वह बेडौल मटकों के स्थान में सुन्दर नक्काशीदार झज्झर और सुराहियाँ बनावे तो वे शहर में भी बिक सकेंगे। पर उसने चाक पर दृष्टि जमाकर खरखराते गले से जो उत्तर दिया उसका अर्थ था कि—उसके बाप-दादा, परदादा सब ऐसे ही घड़े बनाते रहे हैं—वह गँवई-गाँव का कुम्हार ठहरा—उससे शहराती बर्तन न बन सकेंगे। फिर मैंने अधिक कहना-सुनना व्यर्थ समझा।

एक दिन मैं, पढ़नेवाले बच्चों को कुछ पौराणिक कथायें समझाने के लिये कई चित्र ले गई। वे कलात्मक तो नहीं पर बाजार में बिकने वाली शिव, पार्वती, सरस्वती आदि की असफल प्रतिकृतियों से अच्छे कहे जा सकते थे।

बदलू के बच्चों में दुखिया ही पढ़ने आ सकती थी। सम्भवतः वही अपने बापा को यह सूचना दे आई। पर जब अपनी सारी गम्भीरता भूलकर बदलू दौड़ता हुआ वहाँ आ पहुँचा तब मेरे विस्मय की सीमा नहीं रही। मैंने उसे सब चित्र दिखा दिये और उनका अर्थ भी यथासम्भव सरल करके समझा दिया, फिर भी बदलू बच्चों में बैठा ही

रहा। सरस्वती के चित्र पर उसकी टकटकी बँधी देख कर मुझे पूछना ही पड़ा 'क्या इसे तुम अपने पास रखना चाहते हो?' बदलू की दृष्टि में संकोच था—इतनी सुन्दर तस्वीर कैसे मांगी जाय! उसके मन का भाव समझकर जब मैंने उसे वह चित्र सौंप दिया तब वह बालकों के समान आनन्दातिरेक से अस्थिर हो उठा।

कई दिनों के बाद मैंने बदलू के अंधेरे घर के जर्जर द्वार पर उस चित्र को लेई से चिपका हुआ देखा और सत्य कहूँ तो कहना होगा कि मुझे उस चित्र के दुर्भाग्य पर खेद हुआ।

दीवाली के दिन बहुत से मिट्टी के खिलौने खरीदने का मेरा स्वभाव है। वास्तव में वह ऐसा पर्व है जब मिट्टी के शिल्पियों की कारीगरी का अच्छा प्रदर्शन हो जाता है और उस दिन प्रोत्साहन पाकर वे वर्ष भर अपनी कला के विकास की ओर प्रयत्नशील रह सकते हैं। आधुनिक सभ्य युग ने हमारे उत्सवों का उत्साह ही नहीं छीन लिया वरन् इन शिल्पियों का विकास भी रोक दिया है। विचारों में उलझी हुई मैं खिलौने सजाने के लिये जैसे ही बड़े कमरे में पहुँची वैसे ही बाहर बदलू का खरखराता हुआ कण्ठ सुनाई दिया। वह तो कभी मेरे यहा आया ही नहीं था इसी से आश्चर्य भी हुआ और चिन्ता भी। क्या उसके घर कोई बीमार है या किसी प्रकार की आपत्ति आई है? बरामदे मे आकर देखा—मैले कपड़ों में सकुचाया-सा बदलू एक टूटी डलिया लिए खड़ा है।

कुछ आगे बढ़ कर जब उसने डलिया सामने रख कर उस पर ढका हुआ फटे कपड़े का टुकड़ा हटा दिया, तब मैं अवाक हो रही। बदलू एक सरस्वती की मूर्ति लाया था—सफेद और सुनहले रंगों से चित्रित।

मूर्ति की प्रशान्त मुद्रा को उसके शुभ्र वस्त्र, सुनहले बाल, सुनहली वीणा और लाल चोंच और पैर वाले सफेद हंस ने और भी सौम्य कर दिया था। एक एक बाल की लट जितनी कला से बनाई गई थी उससे तो बनाने वाला बहुत कुशल शिल्पी जान पड़ा। पूछा किससे बनवा लाये हो इसे' जो उत्तर मिला उसके लिए मैं किसी प्रकार भी प्रस्तुत नहीं थी। बदलू ने सलज्ज आँखें नीची कर और सूखे बेडौल हाथ फैलाकर बताया कि उसने अपने ही हाथों से बनाई है। विश्वास करना सहज न होने के कारण मैं कभी मूर्ति और कभी बदलू की ओर देखती रह गई। क्या यह वही कुम्हार है जिसने एक वर्ष पहिले सुन्दर घड़े बनाने में भी असमर्थता प्रगट की थी ! मुख से निकल गया—तुम तो गाव के गवार कुम्हार हो, जब नक्काशीदार घड़ा बनाना असम्भव लगता था तब ऐसी मूर्ति बनाने की कल्पना कैसे कर सके !

धीरे-धीरे सत्य स्पष्ट हुआ। सरस्वती के चित्र को देखते देखते बदलू के मन में कलाकार बनने की इच्छा जाग उठी। जहा तक सम्भव हो सका उसने सारी शक्ति लगा कर उस चित्रगत सौंदर्य को मिट्टी में साकार करने का प्रयत्न किया। कई बार असफल रहा पर निरंतर अभ्यास से आज वह सरस्वती की ऐसी प्रतिमा बना पाया जो मुझे उपहार में देने योग्य हो सकी।

तबसे कितनी ही दिवालिया आईं, बदलू ने कितनी ही सुन्दर-सुन्दर मूर्त्तिया बनाई और उनमें से कितनी ही सम्पन्न घरों में अलकार बन कर रहीं।

सरला रधिया तो मानो अपने पति को कलावत बनाने के लिये ही जीवित थी। जैसे ही उसके बेडौल मटकों का स्थान सुन्दर मूर्त्तियों

ने लिया वैसे ही वह अपनी ममता समेट कर किसी अज्ञात लोक की ओर प्रस्थान कर गई।

बदलू तो ऐसा रह गया मानो, चकवा चकवी के जोड़े में से एक हो। सवेरे से साँझ तक और साँझ से सवेरे तक वह रधिया के लौट आने की प्रतीक्षा करता रहता था। प्रतीक्षा वैसे ही करुण है, पर जब एक जीवित मनुष्य उस मृत की प्रतीक्षा करने बैठता है जो कभी नहीं लौटेगा, तब वह करुणतम हो उठती है। मिथ्यावादिनी रधिया उस उदासीन ग्रामीण के जीवन में कौन-सा स्थान रिक्त कर गई है, यह तब ज्ञात हुआ जब उसने घर बसाने की चर्चा चलाने वाले के सर पर एक मटकी दे मारी।

स्त्री में मा का रूप ही सत्य, वात्सल्य ही शिव और ममता ही सुन्दर है। जब वह इन विशेषताओं के साथ पुरुष के जीवन में प्रतिष्ठित होती है तब उसका रिक्त स्थान भर लेना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाता है।

अन्त में तेरह वर्ष की दुखिया ने छोटा-सा अञ्चल फैला कर अपने बप्पा और भाई-बहनों को उसकी छाया में समेट लिया। रधिया का प्रतिरूप बन कर वह उसी के समान सबकी व्यवस्था में अपने आप को गला-गला कर बड़ा करने लगी है।

दो वर्ष हो चुके जब बदलू की कला पर मुग्ध होकर उसका एक ममेरा भाई उसे बच्चों के साथ फैजाबाद ले गया था, परन्तु दीवाली के दिन वह एक न एक मूर्त्ति लेकर उपस्थित होना नहीं भूलता। केवल इसी वर्ष उसके नियम में व्यतिक्रम हो रहा है, क्योंकि दीवाली आकर चली

ग्यारह

धुल-धुल कर धूमिल हो जाने वाले पुराने काले लँहगे को एक विचित्र प्रकार से खोंसे, फटी मटमैली ओढनी को कई फेंट देकर कमर से लपेटे और दाहिने हाथ में एक बडा-सा हँसिया सँभाले लछमा, नीचे पडी घास-पत्तियों के ढेर पर कूद कर खिलखिला उठी। कुछ पहाड़ी और कुछ हिन्दी की खिचडी में उसने कहा 'हमारे लिए क्या डरते हो ! हम क्या तुम्हारे जैसे आदमी हैं ? हम तो हैं जानवर ! देखो हमारे हाथ पांव ! देखो हमारे काम !'

मुक्त हँसी से भरी यह पहाडी युवती न जाने क्यों मुझे इतनी भली लगती है !

धूप से झुलसा हुआ मुख ऐसा जान पडता है जैसे किसी ने कच्चे सेव को आग की आंच पर पका लिया हो। सूखी-सूखी पलकों में तरल-तरल आँखें ऐसी लगती हैं मानो नीचे आँसुओं के अथाह जल में तैर रही हों और ऊपर हँसी की धूप से सूख गई हों।

शीत सहते-सहते ओठों पर फैली नीलिमा, सम दातों की सफेदी से और भी स्पष्ट हो जाती है। रात-दिन कठिन पत्थरों पर दौडते दौडते पैरों में और घास काटते काटते और लकडी तोडते-तोड़ते हाथों में जो कठिनता आ गई है उसे मिट्टी और गोबर की आर्द्रता ही कुछ कोमल कर देती है।

एक ऊँचे टीले पर लछमा का पहाड के हृदय पर पडे छाले जैसा छोटा घास-फूस का घर है।

बाप की आखे खराब हैं, मा का हाथ टूट गया है और भतीजी-भतीजे की माता परलोकवासिनी और पिता विरक्त हो चुका है। साराश यह कि लछमा के अतिरिक्त और कोई व्यक्ति इतना स्वस्थ नहीं जो इन प्राणियों की जीविका की चिन्ता कर सके। और इस निर्जन में लछमा कौन-सा काम कर के इतने व्यक्तियों को जीवित रखे, यह समस्या कभी हल नहीं हो पाती। अच्छे दिनों की स्मृति के समान एक भैंस है। लछमा उसके लिए घास और पत्तिया लाती है। दूध दुहती, दही जमाती और मट्ठा बिलोती है। गर्मियो मे झोंपडे के आसपास कुछ आलू भी बो लेती है। पर इससे अन्न का अभाव तो दूर नहीं होता। वस्त्र की समस्या तो नहीं सुलझती।

लछमा की जीवन-गाथा उसके आसुओ मे भीग भीग कर अब इतनी भारी हो गई है कि कोई अथक कथवाचक और अचल श्रोता भी उसका भार वहन करने को प्रस्तुत नही।

सभ्यता के शेप चिन्हों से साठ मील दूर स्थित एक गाव मे लछमा का विवाह हुआ था। जिसकी ससुराल मे बहुत जमीन थी, बहुत खेती होती थी, बहुत गाय, भैंस, बैल पले थे—साराश यह कि सभी कुछ बहुत था। पर कठोर भाग्य ने अपना व्यग छिपाने के लिए एक स्थान निकाल ही लिया। उसका पति पागल तो नहीं कहा जा सकता, पर उसका मानसिक विकास एक बालक के विकास से अधिक नहीं हो सका। पागल लडके की बुद्धिमती और परिश्रमी बहू को सास-ससुर चाह सकते हैं, पर देवर जेठो के लिए तो वह एक समस्या ही हो सकती है, क्योंकि उसकी उपस्थिति मे भाई की सम्पत्ति का प्रबन्ध करना भी आवश्यक हो जाता है और उसे आत्मसात करने की इच्छा रोकना भी अनिवार्य्य हो उठता है।

अनेक अत्याचार सह कर भी जब लछमा ने अपना अधिकार छोड़ने की इच्छा नहीं प्रकट की तब एक बार वह इतनी अधिक पीटी गई कि बेहोश हो गई और मृत समझ कर खड्ढ में छिपा दी गई। कैसे वह होश में आई और किस असह्य कष्ट से घसिट-घसिट कर खड्ढ के पार दूसरे गाव तक पहुँच सकी, यह बताना कठिन होगा। अपने सम्बन्धियों के अत्याचार के सम्बन्ध में उसने एक शब्द भी मुह से न निकलने दिया, क्योंकि इससे उसके विचार में 'घर की मर्जाद चली जाती।' इसके अतिरिक्त अपने मारे-पीटे जाने की बात अभिमानिनी लछमा कैसे बताती। अचानक बहुत ऊँची शिला से गिर कर चोट खा गई है, इस कल्पित कथा के असत्य में जिस साहस का परिचय मिलता था वह पीटे जाने की क्रूर कहानी के सत्य में दुर्लभ हो जाता।

मार्ग में तीन दिन तक कुछ खाने को न मिल सका। लछमा हँस कर कहती है 'जब बहुत भूखा हुआ तब पीली मिट्टी का एक गोला बनाकर मुह में रखा और आख मूद कर सोचा—लड्डू खाया, लड्डू खाया। बस फिर बहुत-सा पानी पी लिया और सब ठीक हो गया।' मृत्यु की वैतरणी पार करके आई हुई लछमा को देखकर जब नैहर वालों ने उसकी ससुराल वालों को दण्ड देना चाहा तब लछमा के तीव्र विरोध ने ही एक महाभारत का सूत्रपात रोका।

इस अभागी स्त्री की छाया में मानो दुख स्थायीरूप से बस गया है। उसके लौटते ही भौजाई ने एक बालिका और एक मास-भर के शिशु पुत्र को उसकी गोद में रखकर चिर काल के लिए विदा ली। टूटे शरीर और फूटे भाग्य के साथ लछमा को जो पूर्ण और स्वस्थ हृदय मिला है उसी को लेकर उसने यह मधुर-कटु कर्तव्य-भार सँभाला। पर

वह बेचारी सन्तान पालन क्या जाने ! न तो आस-पास किसी छोटे बालक की माता ही मिल सकी और न वह शिशु कटारे से दूध पीना ही सीख सका। तब लछमा की बुद्धि ने नया उपाय खोज निकाला। वह अनुनय-विनय करके किसी से तेल की बोतल खाली करा लाई और उसमें कपड़े की, बत्ती-नुमा कुछ ढीली डाट लगाकर बच्चे को पानी मिला भैंस का दूध पिलाने लगी। ससुराल के अत्याचार से उसकी हड्डी-हड्डी ढीली हो गई है। कुछ देर बैठने से रीढ़ का दर्द व्याकुल कर देता है और खड़े रहने से घुटनों में चिलक उठती है। पर उसने बिना किसी की सहायता के रात-रात भर खड़े रह कर, दिन-दिन भर झुके रह कर अपनी मामी की धरोहर पाल लिया। और आज तो वह शिशु इतना बड़ा हो गया है कि पालतू पशु की तरह बुआ का मूक अनुसरण करता फिरता है।

पहली बार लछमा को देखकर मेरे मन में उसे प्रयाग लाकर पढ़ाने लिखाने का विचार उठा था। पर मेरे प्रस्ताव के उत्तर में लछमा ने केवल अपने जीर्ण शीर्ण घर की ओर देखकर सिर झुका लिया। उतने प्राणियों को वह किसके भरोसे छोड़ आती ? उस समय आशा थी कि पत्नी-वियोग से अव्यवस्थित भाई सम्भवत. लौटकर अपना कर्तव्य सँभाल ले, पर उस आशा के दुराशा सिद्ध होने पर भी लछमा की उजली हँसी निराशा की छाया से म्लान नहीं हुई। वह सहज भाव से मुस्कराकर कह देती है कि जगल में पढ़-लिखकर क्या होगा। यहा तो पेड़ पर चढ़ कर लकड़िया और पत्तिया तोड़ना आना चाहिए। जब बूढ़े मां-बाप नहीं रहेंगे और बच्चे बड़े हो चुकेंगे तब भगवान उसे ससार में क्यों पड़ा रहने देंगे ? फिर उसे अवश्य ही ऐसा जन्म मिलेगा

जिसमें मेरे पास रह कर पढ़-लिख भी सके और कर्तव्य का पालन भी कर सके।

यदि मैं उसे पढ़ाना चाहूँ तो कम-से-कम दूसरे जन्म तक प्रतीक्षा करूँ, इस विचित्र कथन मे यदि कर्तव्य के प्रति इतनी सहज निष्ठा और जीवन के प्रति इतना सरल विश्वास न होता तो पगली लछमा पर हँसने को जी चाहता।

समता के धरातल पर सुख-दुख का मुक्त आदान-प्रदान यदि मित्रता की परिभाषा मानी जावे तो मेरे पास मित्र का अभाव है।

अपने आनन्द के प्रकाशन के लिए मेरे निकट कला ही नहीं पशु-पक्षी, पेड़-पौधे भी बहुत महत्त्व रखते हैं, क्योंकि उन पर भी अपनी प्रसन्नता व्यक्त करके मुझे पूर्ण सन्तोष हो जाता है। रहा दुख का प्रकटीकरण—सो उसका लेश-मात्र भी, भार बना कर किसी को देना मुझे अच्छा नहीं लगता।

दूसरे के सुख में एक प्रकार की निश्चिन्तता का अनुभव करके मैं दूर ही रह जाती हूँ और दुःखग्रस्त से मेरे सम्बन्ध का आधार वात्सल्य ही रहता है।

पर कँटीली डालियों से छिदे हाथों और पैने पत्थरों से क्षतविक्षत पैरों वाली मलिन पर हास से उज्ज्वल लछमा के प्रति मेरे मन में सम्मानयुक्त सख्यत्व की भावना ही प्रधान है। वह अपने दुख में न इतनी अस्थिर है, न हल्की कि उसे मेरे सहारे की आवश्यकता जान पड़े। और अनेक अवसरों पर तो मैंने उसे अपने आप से बहुत गुरु और ऊँचा पाया है।

लछमा के व्यवहार में भी मुझे एक ऐसी समानता का अनुभव

होता है जिसका अन्य पहाड़ी स्त्रियों में अभाव है। मेरे अपने बीच का अन्तर वह अपनी सहज ममता से भर लेती है, अत मुझे उस तक पहुँचने के लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ता।

मैं अच्छे-अच्छे व्यञ्जन खा सकती हूँ, यह जान कर भी वह बड़े यत्न से ऐसी वस्तुएँ लाती ही रहती है जो जगल मे प्राप्य हैं। एक दिन वह छत्ते के मोमी टुकड़ो के साथ हाल का निकाला हुआ शहद लेकर दौड़ी आई और तुरन्त खा लेने के लिए अनुरोध करने लगी। मीठा मुझे वैसे ही कम रुचता है, उस पर मधु को देखते ही मुझे मधु-मक्खियां इस तरह स्मरण आने लगती हैं कि खाना कठिन हो जाता है। पर लछमा के अनुरोध की रक्षा के लिए कुछ चखना ही पड़ा।

वहां तो अनेक व्यक्ति मधुमक्खियां पाल कर मधु का व्यापार करते हैं। पर लछमा न तो मधुमक्खियों को पालने के लिए काठ का बना घर खरीद सकती थी और न उसके घर की दीवारें ही ऐसी थीं जिनमे ऐसा घर बनाया जा सकता। पूछने पर पता चला कि एक दीवार फट गई है। लछमा को उसकी दरार मे मधुमक्खियां पालने की इच्छा हुई। पर मक्खियां वहां पहुचे तो क्योंकर। प्रतीक्षा करते-करते थक कर लछमा मधुमक्खियों को पकड़-पकड़ उस दरार में बैठाने लगी। कई बार उनके काटने से उसके हाथ सूज गये—कई बार वे उस दरार के संकीर्ण घर को नापसन्द कर उठ गईं, पर अन्त में कुछ उदार मक्खियों ने वहां बस कर बेचारी लछमा को कृतार्थ किया। उन्हीं के छत्ते का पहला मधु वह मेरे लिए लाई है।

एक बार इसी प्रकार मेरे आने के दिन सब जगह घूम-घूम कर, वह मुझे विदा मे देने के लिए काले अगूरों का गुच्छा ले आई थी। भैंस जब दूध देती है तब कभी काठ की प्याली में दूध, कभी दोने मे दही

और कभी पत्ते पर मक्खन लिए लछमा दौड़ती चली आती है और गोबर-मिट्टी से गीले पैरों के द्वारा सूखे फर्श पर मटमैले चित्र से बनाती हुई मेरी चौकी के पास पहुँच कर थोड़ा-सा खा लेने के लिए हठ भरा अनुरोध करने लगती है। आदि से अन्त तक मेरी शिक्षा छात्रावास में रह कर ही हुई है—बीच में घर जाने पर मा ही खिलाने पिलाने की विशेष चिन्ता करती थीं, पर उनका चिन्ता करना नियम का अपवाद जैसा लगता रहा है, इसी से मैं ऐसी चिन्ता की अभ्यस्त नहीं हू।

पढ़ना समाप्त करते ही मैंने स्वय अनेक विद्यार्थियों की चिन्ता करने का कर्तव्य स्वीकार कर लिया, अत. मुझे हठ कर खिलाने वाले व्यक्तियों का अभाव ही रहा है। लछमा का हठ करना मेरे आरोपित और कल्पित बड़प्पन को दूर कर मुझे फिर बचपन की सहज और स्वाभाविक स्थिति मे पहुँचा देता है।

वह अपनी ममता मे सरल है। अपने लिखने-पढने मे बहुत व्याघात पड़ते देख एक दिन मैंने खिजला कर लछमा से कहा, 'अब आने पर मैं सामने वाले पहाड़ की सुन सान चोटी पर कुटी बनाकर रहूँगी जहाँ कोई न पहुँच सके।'

निरन्तर सबके भोजन की चिन्ता करते-करते वह जान चुकी है कि भोजन की समस्या सहज सुलझने वाली नहीं होती और बिना उसे सुलझाए ससार का कोई काम सम्भव नहीं। निर्जन मे कहीं मैं भी इसी समस्या मे उलझ कर न रह जाऊँ, यही सोचकर उसने जो उपदेशगर्भित अनुरोध किया वह उसी के योग्य था। लछमा की इच्छा है कि जब उसकी भैंस की दो वर्ष की पड़िया चार की होकर दूध देने

लगे तब मैं पहाड की ऊँची चोटी पर जा कर रहूँ। तब एक भैंस का दूध बूढा बूढी और बच्चों के काम आयेगा और दूसरी का मेरे। वह प्रति दिन नियम से एक सेर दूध, एक सेर दही, दो-चार आलू और लकडी, पानी आदि वहा पहुँचा आया करेगी। वह बोलेगी भी नहीं, देखेगी भी नहीं—केवल दरवाजे पर सब कुछ रख कर लौट आया करेगी। फिर जब मेरी मोटी पोथी लिखी जा चुके और मैं अकेले रहते रहते ऊब जाऊँ तो लछमा, लछमा, पुकारते ही वह सौ काम छोड कर वहा जा पहुँचेगी और सब सामान यहा तक कि कुटी का छप्पर ढोकर नीचे ले आवेगी। इस महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव के अन्त मे जब लछमा बडी विनीत गम्भीरता से मेरे मुख के ओर देखने लगी, तब मैं विस्मय से बोल ही न सकी। एकात और निर्जन सहज प्राप्य है, मोटे-मोटे पोथे लिख लेना भी कठिन नहीं, पर लछमा जैसा अकारण ममतालु सहायक दुर्लभ ही रहेगा।

लछमा का यह कथन कि उसके पास भाग्य की कमी है समझ की नहीं बहुत कुछ सत्य है।

एक बार मेरा हिमालय का चित्र बनाना देखते-देखते वह बोल उठी 'सामान मिलता तो मैं ठीक ठीक बर्फ़ीन उतार देती।' मैने उपहास के भाव से प्रश्न किया—क्या क्या चाहिए? लछमा ने कुछ विचित्र भाव-भगी से जो उत्तर दिया उसका अर्थ था कि उसे एक बडा-सा नीला कागज चाहिए और सफेद और हरा रङ्ग। फिर वह एक बहुत ऊँची चोटी पर किसी समतल चट्टान के ऊपर अपना नीला कागज बिछा कर दिन भर बैठेगी और कहीं दीवार की तरह खडे, कहीं छप्पर की तरह फैले और कहीं मन्दिर के समान कलशदार हिमालय को उतारेगी। नीला कागज आकाश रहेगा, सफेद से बर्फ बनेगी और हरे

से देवदार के पेड। छोटी लछमा की बुद्धि का इतना विशाल परिचय पाकर चकित होना ही स्वाभाविक था। मुझे सफेद कागज पर बड़े प्रयास से नीला आकाश बनाते देख उसने नीले कागज की बात सोच ली होगी।

पूछने पर पता चला कि बिना सिखाये ही लछमा को फूल-पत्ती, बेल-बूटे बनाने की इतनी चाह है कि वह अपनी ही नहीं पडोस के घरों की दीवारों को भी गेरू और चावल से गोद चुकी है। उसकी चित्र-रचना में चाहे अर्थ कुछ न रहे पर बनाने वाली उँगलियों का अपटु परिश्रम और साधनहीनता तो प्रत्यक्ष हो ही जाती है।

इसी प्रकार देखते-देखते वह कुछ-कुछ बुनना भी जान गई है, पर ऊन और सलाइयों के अभाव में बूढे बाप के लिए स्वेटर बुनने की इच्छा साकार न हो पाई। दूसरो से उसकी निराशा का कारण जान कर मैंने उसे वे वस्तुयें मँगवा दीं अवश्य, पर यदि सर्दी में पिता की रक्षा का प्रश्न न होता तो वह उन सब को छोड कर भाग खडी होती, इसमें सन्देह नहीं। मुझ पर उसका स्नेह कम नहीं है पर उस स्नेह को साधन बना कर छोटे से-छोटे स्वार्थ की सिद्धि भी उसे अभीष्ट नहीं रही।

साधारणतः असख्य असुविधायें और विविध अभाव पहाडी जीवन में, स्वार्थ-भावना को बहुत स्थूल और स्पष्ट रूप दे देते हैं, पर लछमा के जीवन को मैंने इसका अपवाद ही पाया।

मुझे उसकी स्वाभाविक हँसी के पीछे छिपे आसुओं को खोजना पडता है और उन आसुओं के नीचे छिपे कारणों का पता लगाना पडता है। फिर अन्त में, 'हम तो ऐसे ही जगली हैं, हमें क्या चाहिए' आदि के द्वारा लछमा मेरा सारा परिश्रम निष्फल किये बिना नहीं रहती।

हृदय से इतनी स्वच्छ लछमा को बाहर से मलिन ही रहना पड़ता है। कभी-कभी तो अपनी मलिनता पर आप ही झुँझला कर कह उठती है 'मै तो इतनी मैली हूँ। मुझे भीतर मत आने दो, बाहर ही रोक दिया करो। देखो तो सारा का सारा घर केसा लगने लगता है।' उसके इस प्रकार के उद्गार स्वयं अपने ही प्रति हुआ करते हैं, क्योंकि उनके उपरान्त वह मुझे सफाई देने लगती है—'पांव तो सवेरे ही मल-मल कर धोये थे पर आधे रास्ते मे भैंस को घास डालने लौट जाना पड़ा। लँहगा तो कल पत्थर पर मोगरी से पीट-पीट कर छाटा था पर बच्चे ने मिट्टी भरे हाथ पोंछ दिये। ओढ़नी तो परसों झरने में धोकर सुखाई थी पर घास बांधने की रस्सी बीच में टूट गई और इसी से बांध कर लाना पड़ा।

न जाने किस युग में लछमा के पास एक काठ की कंघी थी। फिर जब से वह खोई तब से झरने मे धोकर बहुत उलझे बालों को नोच फेंक देना ही उसका प्रसाधन हो गया है। मेरे यहां एक पुराने काले कंघे का उपहार पा लेना उसके लिए एक असंभावित घटना हो गई। उस कंघे को दरानी के साथ कमर मे खोंस कर वह पहाड़ के किस-किस कोने में किस-किस झरने की सहायता से शृङ्गार नहीं करती फिरी, यह बताना कठिन है, पर उसकी विचित्र केश-रचना-जनित प्रसन्नता देख कर आंसू आये बिना नहीं रहते।

शृङ्गार के असंख्य अभूतपूर्व साधनों से भरी बीसवीं शताब्दी मे भी जिस स्त्री के लिये इतनी तुच्छ वस्तु दुर्लभ है उसके दुर्भाग्य को कौन-सा नाम दिया जावे।

एक बार अन्य स्त्रियों से सुना कि लछमा न जाने क्या धूप-दीप करके उनकी सन्तान का अमंगल मनाती रहती है। पूछने पर पता

चला कि वह सन्तान का तो नहीं पर कुछ आंखो का अमगल अवश्य मनाती है। उसके घर न जाने कब की पुरानी और कीडो की खाई हुई दुर्गा की तस्वीर है। सवेरे-साझ उसके सामने कुछ अँगारे रख कर और उन पर कुछ सूखी पर सुगन्धित पत्तियो की धूप डाल कर वह कह लेती है कि जो उस पर बुरी दृष्टि डाले उसकी आखें जल कर क्षार हो जावे।

दूसरों की आखो का अमगल चाहने से किसी की पवित्रता की रक्षा नही होती, क्योंकि वास्तविक पवित्रता का प्रमाण तो यही है कि मलिन से मलिन दृष्टि भी उसका स्पर्श कर पवित्र हो जावे, इस सत्य को समझाना सहज नहीं था। पर लछमा को मेरे कथन के सूक्ष्म भाव तक पहुँचने मे कठिनता नही हुई। तब से उसके धूप-दीप मे अपनी ही नहीं सब की कल्याण कामना रहती है।

यह पर्वत की कन्या जितनी निडर है उतनी ही निश्चल। जिस प्रकार अपनी दराती के साथ वह अँधेरी से अँधेरी रात मे भी मार्ग ढूढ लेती है उसी प्रकार अपने निश्चय के साथ वह घोर-से-घोर विरोध में भी अटल रह सकती है।

कुछ वर्ष पूर्व लछमा के जीवित हो जाने का समाचार पाकर ससुराल के कुछ सम्बन्धी उसके अबाव पति को लेकर बुलाने आये। उसने अपने बालक बुद्धिपति से अनुरोध किया कि वह अपने भाइयों को सब कुछ सौंप कर आ जावे और उसी के पास रहे। वह स्वय भैंस की गोंठ मे पड़ी रहेगी पर पति के रहने के लिये एक लिपी पुती स्वच्छ कोठरी का प्रबन्ध करेगी। स्वय चाहे मलिन दुर्गन्धित घास मे पड़ी रहेगी पर उसके लिये गाव वालो से चारपाई माग लावेगी। आप भूख

रहेगी पर रात-दिन मजदूरी करके उसके भोजन का प्रबन्ध करेगी। लछमा के साथ उसका विवाह हुआ है, अत उसे वह जीवन भर न छोड़ेगी। पर वह उसके घर नहीं जा सकती, क्योंकि वहाँ लोग उसे मार डालेंगे और उसके माता-पिता, भतीजा-भतीजी भूख से अपने आप मर जायँगे।

सम्बन्धियों ने उसके पति को वहा न छोड़ा, क्योंकि उन्हें मर कर जीवित हो जाने वाली मायाविनी बहू की सच्चाई पर विश्वास नहीं।

लछमा के इस व्यवहार से आस-पास असन्तोष की लहर-सी फैल गई और वह अनेक प्रकार की चर्चा का आधार बनने लगी।

समाज के मनोविज्ञान का जैसा परिचय समतल में मिलता है वैसा ही पर्वत की विषम भूमि में।

एक पुरुष के प्रति अन्याय की कल्पना से ही सारा पुरुष-समाज उस स्त्री से प्रतिशोध लेने उतारू हो जाता है और एक स्त्री के साथ क्रूरतम अन्याय का प्रमाण पाकर भी सब स्त्रिया उसके अकारण दण्ड को अधिक भारी बनाये बिना नहीं रहतीं।

इस तरह पग-पग पर पुरुष से सहायता की याचना न करने वाली स्त्री की स्थिति कुछ विचित्र-सी है। वह जितनी ही पहुँच के बाहर होती है पुरुष उतना ही झुँझलाता है औ प्राय यह झुँझलाहट मिथ्या अभियोगों के रूप में परिवर्तित हो जाती है। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि जो अप्राप्य है उसी को प्राप्त प्रमाणित कर के हमें सतोष है, जो प्राप्त है उसे प्राप्त प्रमाणित करने की आवश्यकता ही नहीं रहती।

पर खड़ा हुआ व्यक्ति यदि अपने गिरने की घोषणा सुनते-सुनते खड़े होने के प्रयास को व्यर्थ समझने लगे तो आश्चर्य क्या ! इसी कारण जब तक स्त्री स्वभाव से इतनी शक्तिशालिनी नहीं होती कि मिथ्या परा-भव की घोषणा से विचलित न हो तब तक उसकी स्थिति अनिश्चित ही रहती है।

लछमा में मैंने अविचलित रहने की शक्ति भी देखी और बड़े से-बड़े अपकार को क्षमा कर देने की उदारता भी। न वह दूसरों की निन्दा करके हल्की बनती है। और न अपनी सफाई देकर आत्मविश्वास की न्यूनता प्रकट करती है। उसका दर्पण-जैसा मन स्वय ही अपनी स्वच्छता का प्रमाण है एक बार तो जब एक सज्जन मेरे घर में बैठ कर मुझे लछमा के कल्पित दोष गिना रहे थे तब वह दरवाजे के बाहर खड़ी होकर उन्हें छोटे बच्चों की तरह मुह चिढा रही थी।

गाव के बुरे-से-बुरे व्यक्ति की भी चर्चा चलते ही वह सरल भाव से कह देती है 'अपने आप रहेगा' उसके स्वनिर्मित शब्दकोश में इसका अर्थ है रहने दो—जैसा करेगा वैसा पावेगा।

मार्ग में आने-जाने वाले सभ्य जब चरने वाली भैंस और चराने वाली लछमा के साथ एक-सा उपेक्षा भरा व्यवहार करते हैं तब वह रुष्ट नहीं होती—उल्टे उनकी सफाई देने लगती है—'हम तो आदमी जैसे नहीं। वे बहुत अच्छे हैं फिर)हमसे कैसे बोलें, हम भी नहीं बोलते; तुम बहुत अच्छा नहीं करते क्योंकि हमसे बोलते हो—पर तुम हमसे अच्छा बोलते हो इसी से हम तुमको घेरते हैं।' ऐसे टूटे-फूटे वाक्यों में लछमा का जो तात्पर्य्य छिपा रहता है उसे पूर्णतः समझ लेना चाहे सहज न हो, परन्तु

इतना तो समझ में आ ही जाता है कि उसके अपनी लघुता पर संकुचित हृदय में किसी के प्रति कोई दुर्भावना रखने का स्थान नहीं।

मेरे आने का दिन लछमा के लिए बहुत व्यथा भरा दिन रहता है। भैंस दुह कर वह मेरे यहाँ दौड आती है। पानी भर कर वह फिर एक चक्कर लगाने चल देती है। बच्चों को रोटी दे कर वह फिर एक फेरी दे जाती है। जैसे-जैसे मेरा सामान बँधता है वैसे-वैसे मानो लछमा के जोड-जोड के बन्धन शिथिल होते जाते हैं।

एक मील तक मुझे पहुँचाने आने का उसका नियम है। मील का दूसरा पत्थर आते ही जब मैं उसे लौट जाने का आदेश देती हूँ तब वह खोई-सी खडी हुई, बार-बार आखें पोछ कर दृष्टि से ही कुछ दूर तक मेरा अनुसरण करती रहती है।

पहाडी राह तो हमरे यहा की लम्बी-चौडी सडक नहीं है। चार पग चल कर ही कभी दाहिनी ओर मुड जाना पडता है, कभी बाईं ओर, कभी कोई पेड दृष्टि रोक लेता है, कभी कोई शिला-खण्ड। मेरे दृष्टि से ओझल हो जाने पर भी लछमा का आसुओं से गीला कण्ठ दूर तक सुनाई देता रहता है—सँभाल के जाना—जल्दी लौटना—अच्छा-अच्छा—

इन दिनों लछमा के सामने भूखे मरने का प्रश्न नहीं रहता। सेब के बाग फलों से लदे हुए हैं। पेड़ों के नीचे गिरे कच्चे और खट्टे सेब वहीं सूख या सड जाते हैं इसी से कोई उन्हे लेने से नही रोकता। आज-कल किसी भी पेड के नीचे बैठ कर लछमा सेर-तीन पाव खट्टे और न खाने योग्य सेव गले के नीचे उतार लेती है और फिर दो-दो दिन तक निराहार काम में लगी रहती है।

पर धीरे-धीरे वह जाडा आ रहा है जब धरती के हृदय पर दुख-भार के समान तीन तीन फीट ऊँची बर्फ जम जायगी, जब लोग अपने-अपने घरों में आग तापते हुए पुरानी कथाओं को नये ढग से कहेंगे, जब सपन्न और निर्धन सब अपने सचित अन्न के भरोसे प्रकृति की तरल पर क्रूर क्रीडा का उपहास करेंगे, जब कुछ पशु नीचे के गर्म गावों की ओर भेज दिए जायँगे और कुछ सुखाई हुई घास देकर गर्म गोठों में सुरक्षित रखे जायँगे। और तब विकलाग बूढों, असमर्थ बालकों तथा अरक्षित पशुओं को लेकर लछमा क्या करेगी?

मुझे उसका कोई समाचार नहीं मिलता यह सत्य भी है और नहीं भी। वह पढी-लिखी होती तो पत्र लिखने की सुविधा रहती, यह सुन कर लछमा एक विचित्र भाव-भगिमा के साथ अपनी अटपटी-सी भाषा में उत्तर देती है—'हम तो अपने जैसी चिट्ठी लिख लेते हैं। एक टीले पर बैठ कर सोचते हैं, यह लिखा, वह लिखा, यह ठीक लिख गया—वह लिखना अच्छा नहीं हुआ। फिर जब मन में आता है कि चिट्ठी गई तब उठ कर खुशी से घास काटते हैं, लकडी तोडते हैं। क्या हमारा लिखा नहीं पहुँचता?'

कागज़, कलम, स्याही और अक्षरों से शून्य तथा पोस्ट आफिस की सहायता के बिना भेजी गई चिट्ठी की बात सुन कर किसे हँसी नहीं आवेगी!

पर जब सर्दियों में मैं अचानक ही यहाँ के गर्म कमरे को छोड़ कर उस हिम से मूर्च्छित पर्वत की ओर जाने को उद्यत हो जाती हूँ, गर्मियों में सभ्य समारोह से मुखरित पर्वतीय सौन्दर्य का निरादर कर, उस व्यथा से नीरव हिमानी के कोने में पहुँचने के लिए विकल हो उठती हूँ तब मुझे निरक्षर लछमा की चिट्ठी नहीं मिलती, यह कौन कह सकता है?

अगस्त, १९३९